अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का तुलनात्मक अध्ययन

AJNEYA AUR MUKTIBODH KE AALOCHANA-KARM KA TULANATMAK ADHYAYAN

(A comparative study of the critical work of Ajneya and Muktibodh)

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक
डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी
रजनीश कुमार यादव

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली-110067, भारत / New Delhi-110 067, india

Dated 20 / 11 / 2017

DECLARATION

I declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitle **"AJNEYA AUR MUKTIBODH KE AALOCHANA-KARM KA TULANATMAK ADHYAYAN" (A comparative study of the critical work of Ajneya and Muktibodh)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Rajnish Kr. Yadav 20/11/17

RJNEESH KUMAR YADAV
(Research Scholar)

20/11/2017

DR. OMPRAKASH SINGH
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

समर्पित...

माता-पिता और भतीजी (जीवा) को

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका **i - vi**

अध्याय–एक : अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म की पृष्ठभूमि **1–27**

1.1 हिन्दी आलोचना की विकास परम्परा
1.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पूर्व हिन्दी आलोचना
1.3 आचार्य रामचंद्र शुक्ल युगीन हिन्दी आलोचना
1.4 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना
1.5 मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना
1.6 नयी आलोचना या नयी समीक्षा (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना)

अध्याय–दो : अज्ञेय का आलोचना–कर्म **28–59**

2.1 अज्ञेय के आलोचना–कर्म का विकास क्रम
2.2 अज्ञेय की सैद्धांतिक आलोचना
2.3 अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना

अध्याय–तीन : मुक्तिबोध का आलोचना-कर्म **60–97**

3.1 मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का विकास क्रम
3.2 मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना
3.3 मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना

अध्याय–चार : अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म का सैद्धांतिक पक्ष : साम्य और वैषम्य **98–126**

4.1 अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना के सामान्य स्वर
4.2 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में साम्य
4.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में वैषम्य

अध्याय–पाँच : अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का व्यावहारिक पक्ष : साम्य–वैषम्य **127–158**

5.1 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना के प्रस्थान बिन्दु

5.2 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में साम्य

5.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में वैषम्य

अध्याय–छः : अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन **159–191**

6.1 अज्ञेय के आलोचना कर्म का मूल्यांकन

6.2 मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का मूल्यांकन

6.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन

उपसंहार **192–198**

संदर्भ ग्रंथ **199–204**

भूमिका

साहित्य में परस्पर विरोधी युग्मों के विषय में सोचने की आदत को प्रायः यह भुलाकर हिन्दी आलोचना में प्रचारित या प्रस्तुत किया जाता है कि किसी भी समय में लिखने वालों के बीच समानता और साहचर्य भी हो सकता है। हिन्दी साहित्य में परस्पर विरोधी युग्मों में भी अनेक दृष्टियों, शैलियों और विचारों का साहचर्य रहा है। जिस प्रकार मध्यकाल में कबीर और तुलसी, छायावाद में प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी अपने अपेक्षाकृत कम साम्य और अधिक वैषम्य के बावजूद छायावादी हैं, उसी प्रकार अज्ञेय और मुक्तिबोध नई कविता, आधुनिकता, रचना और आलोचना में अपनी समानताओं और विषयमताओं, परस्पर कई विरोधों और अन्तर्विरोधों के बावजूद भी कई बिन्दुओं पर समान हैं। उनकी समानताओं और असमानताओं के पीछे कोई आलोचनात्मक या वैचारिक आरोपण नहीं बल्कि तुलनात्मक शोध की दृष्टि ही महत्त्वपूर्ण है।

किसी भी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करना एक प्रविधि है। तुलनात्मक साहित्य और तुलनात्मक आलोचना की प्रविधि के स्वरूप और संभावना को लेकर भारतीय और यूरोपीय विद्वानों में मतभेद है। प्रायः तुलनात्मक साहित्य को परिभाषित करते हुए एक से अधिक भाषाओं में रचित साहित्य का अध्ययन और तुलना को उसका प्रमुख अंग माना जाता है। जब एक ही भाषा के लेखकों का तुलनात्मक अध्ययन करना हो तो तुलनात्मक आलोचना प्रविधि को अपनाना पड़ता है।

तुलनात्मक आलोचना साहित्य के अध्ययन के विषय में एफ.आर. लिविस ने अपनी पुस्तक 'ऐन एक्सपेरीमेंट इन क्रिटिसिज़्म' में दो मुख्य सवालों को उठाया है। पहला, क्या यह आरोप सही है कि आलोचक एक नितांत परोपजीवी (पैरासाइक) व्यक्ति हुआ करता है और उसके आलोचना–कर्म का महत्त्व प्राथमिक नहीं होता। दूसरा, क्या आलोचना की भी कोई प्रविधि हो सकती है? किसी 'आलोचना की सार्थकता' इस बात में निहित है कि वह रचना की बनावट (स्ट्रक्चर) तथा बुनावट (टेक्सचर) का गहराई से विश्लेषण करे। अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का तुलनात्मक अध्ययन करते समय रचना, पाठ, अभिगम (एप्रोच), तथ्य विश्लेषण और मूल्यांकन को ध्यान में रखा गया है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का तुलनात्मक अध्ययन' की संभावना इसलिए बनती है कि दोनों की आलोचना प्रकृति एक–सी है। अज्ञेय और मुक्तिबोध मूलतः रचनाकार आलोचक हैं। उन्होंने अधिकतर वैचारिक निबंध लिखे हैं जिनमें उनका आलोचकीय रूप दिखता है। अधिकांशतः उनके निबंधों का संचयन और सम्पादन किया गया है।

अज्ञेय के आलोचना कर्म का विश्लेषण करें तो उन्होंने अपने निबंधों एवं सम्पादित रचनाओं की भूमिकाओं में 'रचना' के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त करते हैं, उन विचारों ने हिन्दी आलोचना को एक नई ऊँचाई प्रदान की है। प्रयोगशीलता, आत्माभिव्यक्ति, पुनःसंस्कार, मानववाद, साधारणीकरण और सम्प्रेषण, परम्परा और आधुनिकता, तथ्य और सत्य, संकटग्रस्त अस्मिता, अनुभव की अद्वितीयता, अहं का विलयन, स्वाधीन चेतना और सर्जनात्मक क्षमता, वरण की स्वतंत्रता आदि गंभीर विषयों पर अज्ञेय ने विचार किया है। अज्ञेय के चिन्तन के केन्द्र में विज्ञान के विकासवाद के समानान्तर मानव संवेदना के विकास की भी चिन्ता है। 'त्रिशंकु' (1945) में संक्रान्तिकाल की समस्याओं का मंथन, 'आत्मनेपद' (1960) में काव्य, आख्यान, आलोचना और संस्कृति का विश्लेषण, 'अद्यतन' (1977) में सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण और 'संवत्सर' (1978) में काल–चिन्तन पर विचार किया गया है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अज्ञेय द्वारा सम्पादित तारसप्तक की भूमिकाएं एक नयी राह दिखाती हैं।

मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का विश्लेषण करें तो उनकी आलोचनात्मक कृति की तरफ लोगों का ध्यान बहुत बाद में गया तथा उनका प्रकाशन भी देरी से हुआ। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' (1961), नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध (1964) और 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (1971) जैसी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियों के माध्यम से मुक्तिबोध ने भी हिन्दी आलोचना को एक नयी ऊँचाई प्रदान की। मार्क्सवादी समीक्षकों में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विवादास्पद है। समझा जाता है कि 'भाववादी' चिन्तन के संस्कार उनमें अंत तक बने रहे। यह सब होने के बावजूद निर्विवाद है कि प्रगतिशील समीक्षा को 'नई कविता' के संदर्भ में सार्थक बनाने का काम मुक्तिबोध ने दूसरों से बेहतर ढंग से किया। 'नई कविता' के दौर में उन्होंने बुद्धिजीवियों में विकसित होने वाले नये अवसरवाद को पहचाना और उसकी आलोचना भी की। मुक्तिबोध ने निम्न वर्ग में व्याप्त निराशा, घुटन, पराजय और उदासीनता को सामाजिक जीवन–स्थितियों से उत्पन्न मानकर नयी कविता में उसकी

अभिव्यक्ति को नैतिक समर्थन दिया। एक सुलझे हुए मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में उन्होंने कला की सापेक्ष्य स्वतंत्रता को स्वीकार किया और इसी रूप में उसकी रचना–प्रक्रिया का विश्लेषण किया। मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में मुक्तिबोध ने कामायनी की जो समीक्षा की, वह आज भी विशेष महत्त्व रखती है।

जिस प्रकार से छायावादी कवियों ने आलोचनात्मक लेखन से अपनी रचना की पृष्ठभूमि स्पष्ट की और रचना तथा आलोचना के लिए नया रास्ता बनाया उसी प्रकार का कार्य अज्ञेय और मुक्तिबोध ने भी किया। दोनों आलोचको ने 'शास्त्रनिर्माण' की जगह 'मौलिक विचारों' का सूत्रपात किया और हिन्दी आलोचना को एक नया रास्ता दिखाया।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध 'अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का तुलनात्मक अध्ययन' के **अध्याय : एक** के अन्तर्गत – अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म की पृष्ठभूमि पर गंभीर चिंतन किया गया है। अज्ञेय और मुक्तिबोध कवि के रूप में प्रयोगवादी (तारसप्तक) हैं, जबकि आलोचक के रूप में दोनों की चिंतन–प्रक्रिया, रचना–प्रक्रिया और वैचारिक रास्ते अलग–अलग हैं। जहाँ अज्ञेय आलोचक के रूप में कलावादी और आधुनिकतावादी हैं, वहीं मुक्तिबोध मार्क्सवादी हैं। मार्क्सवादी होने के बावजूद वे मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की कमजोरियों को रेखांकित करते हैं। मार्क्सवादी साहित्यचिंतन पर अज्ञेय ने जितना कड़ा प्रहार अपनी आरंभिक पुस्तकों 'त्रिशंकु' और 'आत्मनेपद' में प्रकाशित निबंधों के माध्यम से किया उतना बाद के निबंधों में नहीं। उनमें केवल आवश्यकतानुसार ही उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य का खण्डन किया है। अज्ञेय और मुक्तिबोध समकालीन तो थे ही इनका सम्बन्ध नेहरू युग से भी था। इसका प्रभाव इनके आलोचना कर्म पर भी दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने आलोचना–कर्म में लोकतंत्र की स्थापना और समाजवादी व्यवस्था के विकास में गहरी आस्था को भी प्रकट किया है। इसके अलावा प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना, द्वितीय विश्व युद्ध, आजादी और स्वतंत्रता के बाद की बदली हुई परिस्थितियों में इनके आलोचना कर्म पर क्या प्रभाव पड़ा आदि के पृष्ठभूमि में अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है। इसी कड़ी में हिन्दी आलोचना के उद्‌भव एवं विकास पर भी एक नज़र दौड़ायी गयी है।

अध्याय : दो के अंतर्गत – अज्ञेय के आलोचना कर्म का मूल्यांकन किया गया है, जिसमें अज्ञेय के आलोचना कर्म का विकास क्रम, उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का गंभीरता से अध्ययन किया गया है। अज्ञेय की सैद्धांतिक आलोचना के अन्तर्गत उनके आलोचना सम्बन्धी चिन्तन में परंपरा और आधुनिकता, वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता, व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व, प्रयोग और अन्वेषण, पक्षधरता और प्रतिबद्धता, भाषा और संप्रेषण तथा साधारणीकरण, वाचिक और मुद्रित कविता, साहित्य चिंतन और साहित्य उद्देश्य, क्षण के प्रति आग्रह तथा आत्मप्रेषण और आत्मसाक्षात्कार और नई कविता आदि विषयों पर गंभीरता से अध्ययन किया गया है। उनकी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना के स्वर जिसमें भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल के संदर्भ में उनके द्वारा की गई समीक्षाओं का अध्ययन किया गया है। भक्तिकाल के अंतर्गत कबीर व तुलसी का अध्ययन, रीतिकाल में केशव की कविताई का अध्ययन और आधुनिककाल में मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, प्रेमचंद, सियारामशरण गुप्त, सुदर्शन, जैनेन्द्र और हरिवंशराय बच्चन आदि की रचनाओं की समीक्षाओं का अध्ययन किया गया है।

अध्याय : तीन के अन्तर्गत – मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का मूल्यांकन किया गया है इसके अन्तर्गत मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का विकासक्रम रेखांकित किया गया है। मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना में मार्क्सवादी समीक्षा के मूल तत्त्व, कला–प्रक्रिया के वर्गीय आधार, सौन्दर्यानुभव और जीवनानुभव, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रतिबद्धता और पक्षधरता, वस्तु और रूप और नई कविता आदि विषयों पर गंभीरता से अध्ययन किया गया है। मुक्तिबोध के व्यावहारिक आलोचना में भक्तिकाल और आधुनिककाल पर चिंतन है। भक्तिकाल पर उनके महत्त्वपूर्ण लेख 'मध्ययुगीन भक्तिकाल एक पहलू' का मूल्यांकन किया गया है। आधुनिककाल में उनके दो महत्त्वपूर्ण लेखों जो अब पुस्तकों में परिवर्तित हो चुके हैं, 'कामायनी : एक पुनर्विचार' तथा 'उर्वशी : एक विवाद' का मूल्यांकन किया गया है। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना के लिए मील का पत्थर साबित हुई। इसके अलावा प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, शमशेर, त्रिलोचन, कुंवरनारायण, पंत और निराला, महादेवी वर्मा, हरिवंशराय बच्चन आदि की रचनाओं का मुक्तिबोध द्वारा मूल्यांकन किया गया है। प्रस्तुत शोध–प्रबंध में उनके मूल्यांकन का मूल्यांकन किया गया है।

अध्याय : चार के अन्तर्गत – अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष – साम्य और वैषम्य का मूल्यांकन किया गया है। इसमें अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धांन्तिक आलोचना के सामान्य स्वर को रेखांकित किया गया है। उनके सैद्धान्तिक आलोचना के साम्य पक्ष के अन्तर्गत – कला और कलाकार का पृथक्त्व, वाचिक और मुद्रित कविता का संदर्भ, काव्य–विषय और काव्यवस्तु में अंतर, जीवनानुभूति और काव्यानुभूति का सम्बन्ध, परंपरा और आधुनिकता, क्षणवाद का सवाल, अनुभूति की ईमानदारी का प्रश्न तथा आत्मसंघर्ष का प्रश्न प्रमुख है। विषमता या अंतर व्यक्ति या वस्तु को महत्त्वपूर्ण और विशेष बनाता है। यही विचार अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म पर लागू होता है। इनके सैद्धांतिक आलोचना के वैषम्य पक्ष के अन्तर्गत – विचारधारात्मक अलगाव, पक्षधरता तथा प्रतिबद्धता, नई कविता का मूल्यांकन, सौन्दर्यानुभूति और जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि, आत्मसंघर्ष और आत्माभिव्यक्ति आदि सवाल प्रमुख हैं; जिनका गंभीरता से अध्ययन किया गया है।

अध्याय : पाँच के अन्तर्गत – अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म के व्यावहारिक पक्ष : साम्य–वैषम्य का अध्ययन किया गया है। इसमें अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना के प्रस्थान बिन्दु का निर्धारण किया गया है। अज्ञेय और मुक्तिबोध के व्यावहारिक आलोचना के साम्य पक्ष के अन्तर्गत भक्तिकाल और आधुनिक काल को केन्द्र में रखा गया है। भक्तिकाल और भक्तिकाव्य का मूल्यांकन करते समय अज्ञेय और मुक्तिबोध का विषय तो समान है लेकिन उनके विचार अलग हैं। भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में अज्ञेय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार के निकट हैं, जबकि मुक्तिबोध, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के। कबीर व तुलसी के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में साम्य प्रतीत होता है। इसके अलावा दोनों की व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, हरिवंशराय बच्चन आदि की रचनाएं हैं, जिनका अपने दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया है। अज्ञेय और मुक्तिबोध के व्यावहारिक आलोचना में वैषम्यता के विषय में अज्ञेय कम तथा मुक्तिबोध ने अधिक लेख लिखा है। अज्ञेय ने जैनेन्द्र, सुदर्शन, सत्यवती मलिक आदि का मूल्यांकन किया है जबकि मुक्तिबोध ने फ्रेंच क्रांति के ईर्दगिर्द का उपन्यास साहित्य, शेक्सपियर और लू सुन की कहानियों का मूल्यांकन किया है।

अध्याय : छः के अन्तर्गत – अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है, जिसके अन्तर्गत पूर्ववर्ती अध्यायों के विषयों का गंभीरता से मूल्यांकन किया गया है, जिससे अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म को समझने में आसानी हो सके। इसमें अज्ञेय और मुक्तिबोध के सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है। इससे प्रस्तुत शोध की नवीनता और प्रासंगिकता सिद्ध हो सकेगी।

प्रस्तुत शोध प्रबंध की परिकल्पना अज्ञेय जन्मशताब्दी वर्ष (2011) से बननी शुरू हुई थी जो कि मुक्तिबोध जन्मशताब्दी वर्ष (2017) में पूर्णता को प्राप्त हो रही है। इससे बड़ी खुशी की बात किसी शोधार्थी के लिए और क्या हो सकती है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के शोध निर्देशक प्रो. ओमप्रकाश सिंह की बौद्धिक सहायता के बिना यह पूरा नहीं हो सकता था। मेरे शोध निर्देशक शोध–प्रबंध को त्रुटि रहित बनाने में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव देते रहे जिसके परिणामस्वरूप अज्ञेय और मुक्तिबोध जैसे कठिन आलोचकों को समझने में मुझे मदद मिली। छोटे और अनिश्चितता भरे जीवन में किसी विषय पर विशेषज्ञता हासिल करना एक बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। इसे पूरा करने में माता–पिता, भाई और दोस्तों की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। अतः सभी का आभार!

यह शोध प्रबंध अपना अंतिम रूप नहीं ले पाता यदि टंकक शिवप्रताप (चाचाजी) तीव्रता से इसे टाइप न करते। उनको दिल से धन्यवाद!

– रजनीश कुमार यादव
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

दिनांक : .....

अध्याय–एक

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म की पृष्ठभूमि

1.1 हिन्दी आलोचना की विकास परम्परा

1.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पूर्व हिन्दी आलोचना

1.3 आचार्य रामचंद्र शुक्ल युगीन हिन्दी आलोचना

1.4 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना

1.5 मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना

1.6 नयी आलोचना या नयी समीक्षा (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना)

1.1 हिन्दी आलोचना की विकास परम्परा

जब अज्ञेय और मुक्तिबोध का आलोचनात्मक लेखन प्रारम्भ हुआ तब हिन्दी आलोचना लगभग सौ वर्षों की हो चुकी थी। यदि आधुनिक काल के आरंभिक समय–सीमा के विवादों में न जाकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इसका प्रारम्भ 1843 ई. से माना जाय[1] तो सौ वर्ष पश्चात् 1943 ई. में 'तारसप्तक' की भूमिका लिखकर अज्ञेय ने अपने आलोचना-कर्म की ओर संकेत कर दिया था। उसी समय मुक्तिबोध ने भी 'मेरी डायरी' और 'नया खून' में आलोचनात्मक लेख लिखना प्रारम्भ कर दिये थे। मोटे तौर पर अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म के पूर्व हिन्दी आलोचना की सौ वर्षों की विकसित परम्परा मौजूद थी। अतः इनके आलोचना–कर्म की पृष्ठभूमि को समझने के लिए इन सौ वर्षों में हिन्दी आलोचना के विकास क्रम को समझना होगा।

निर्विवाद रूप से भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय से ही हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल की शुरुआत हुई। इसी समय अनेक गद्य विधाओं का जन्म हुआ । इनमें से आलोचना एक प्रमुख विधा है। किसी रचना को समझने के लिए आलोचना की आवश्यकता होती है। आलोचना का अर्थ है, किसी वस्तु या रचना का सम्यक् मूल्यांकन करना। इस प्रक्रिया में विवेचन, विश्लेषण, मूल्यांकन और रसास्वाद आदि को ध्यान में रखा जाता है। आलोचना की प्रमुख विशेषता यह है कि वह रचना, और पाठक के बीच पुल या सेतु का निर्माण करती है। यह पाठक की समझ का विस्तार करती है। आलोचना की अनेक पद्धतियाँ हैं, जैसे – निर्णयात्मक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना आदि।

हिन्दी आलोचना अपने प्रारंभिक दौर में पुस्तक परिचय और सामान्य गुण–दोष विवेचन तक ही सीमित थी। बाद में उसमें अनेक आलोचना पद्धतियों का विकास हुआ और इसने गद्य की सशक्त विधा के रूप में स्थान बनाया। अनेक आलोचकों की अच्छी और तार्किक आलोचनाओं ने यह प्रमाणित किया कि आलोचना केवल रचना के साथ–साथ चलने वाली नहीं है, बल्कि उसका भी अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व है। वह रचना की तरह ही एक रचनात्मक कर्म है। हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह की एक पुस्तक का नाम ही है – 'आलोचना भी रचना है।'[2]

हिन्दी में आलोचना का उद्‌भव और विकास आधुनिक काल में हुआ। इससे पूर्व हिन्दी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल में आलोचना का कार्य नहीं के बराबर हुआ। इस काल के कवि संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर काव्य कर्म करते रहे और अपनी रचनाओं में जहाँ-तहाँ अपने काव्यशास्त्री होने का उल्लेख करते रहे, लेकिन उनके समय में न तो उनके उल्लेखों के आधार पर काव्य-सिद्धान्तों की निर्मिति हुई और न ही रचनाओं के मूल्यांकन-परीक्षण की प्रक्रिया शुरू हुई।

रीतिकाल में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर केशवदास, चिंतामणि, मतिराम, कुलपति मिश्र और भिखारीदास आदि आचार्य-कवियों ने रस, छन्द, अलंकार, रीति, शब्द-शक्ति और नायक-नायिका भेद से सम्बन्धित अनेक लक्षण ग्रन्थों की रचना की। यह अलग बात है कि इनसे केवल सिद्धान्त-निरूपण ही हुआ। इससे व्यावहारिक समीक्षा का रूप विकसित नहीं हुआ। इसका बड़ा कारण यह हो सकता है कि उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था। तब तक सारी बातें पद्य में लिखी जाती थीं। पद्य में किसी बात पर तर्क-वितर्क करना सम्भव नहीं था। इसी कारण व्यावहारिक आलोचना का रूप अविकसित रहा। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी ने लिखा हैं "लगभग दो सौ वर्षों तक निरंतर सिद्धान्त-निरूपण में लीन रहने पर भी हिन्दी के आचार्य न तो किसी मौलिक सिद्धान्त की स्थापना कर सके और न संस्कृत के सिद्धान्तों को ही विकसित कर सके।"[3] रीतिकाल में व्यावहारिक आलोचना का रूप संस्कृत की सूत्र-शैली (सूक्ति) के रूप में ही प्रचलित रहा। वह भी पद्य में ही ।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में गंभीर चिंतन, मनन और विश्लेषण का अभाव था। इसमें प्रभावात्मक अभिव्यक्ति और प्रशंसात्मक मूल्यांकन की ही प्रमुखता थी। तर्क-वितर्क की इस शैली से साहित्य का न तो मूल्यांकन संभव था और न ही इसका रसास्वादन।

1.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पूर्व हिन्दी आलोचना

हिन्दी आलोचना के विकास क्रम को सरलता से समझने के लिए इसे प्रमुख आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल को केन्द्र में रखकर उनके पूर्व युग और बाद के युग को कई चरणों में बांटकर समझा जा सकता है। अतः शुक्ल पूर्व युग में भारतेंदु युग (प्रथम चरण) से आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात होता है। इस काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय जनता में बौद्धिकता, तार्किकता और भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रसार हुआ और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अन्य गद्य रूपों के साथ हिन्दी आलोचना के नए और आधुनिक रूप का जन्म हुआ। भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा सम्पादित 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' में समीक्षाएँ प्रकाशित होती थीं। इनके अलावा हिन्दी प्रदीप, भारत-मित्र, या लोक-मित्र, ब्राह्मण और आनन्द कादम्बिनी आदि पत्रिकाओं ने भी पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित करके आलोचना विधा को विकसित किया। हालांकि आरंभ में ये समीक्षाएँ केवल परिचयात्मक एवं सामान्य कोटि की थीं, लेकिन धीरे-धीरे इनमें वैशिष्ट्य और परिष्कार आता गया।

भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जीवन रूचि, स्वाभाविकता, यथार्थता और प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता तथा नाटकों की आवश्यकता का जो विवेचन किया है, उसे हिन्दी आलोचना का प्रथम चरण मानना चाहिए और भारतेन्दु को हिन्दी का प्रथम आलोचक। हालांकि भारतेंदु व्यावहारिक आलोचना का रूप विकसित नहीं कर सके। वे अधिकतर सैद्धांतिक विवेचन तक ही सीमित रह गये। उनकी आलोचना दृष्टि का विकास आगे चलकर बालकृष्ण भट्ट और बद्रीनारायण 'प्रेमघन' ने किया। आलोचना के माध्यम से किसी रचना के मूल्यांकन का कार्य इन दोनों आलोचकों ने किया। प्रेमघन ने 'आनंद कादम्बिनी' में बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा की तो बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में 'संयोगिता स्वयंवर' की तीखी आलोचना की। इस तरह भारतेंदु युग में एक ओर परम्परागत साहित्य सिद्धान्तों को विकसित करने का प्रयास हुआ तो दूसरी ओर उपेक्षित व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात भी हुआ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल पूर्व युग की हिन्दी आलोचना का दूसरा चरण द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास एवं परिष्कार के लिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो कार्य किया, वह महत्त्वपूर्ण है। इस युग में हिन्दी साहित्य का विधागत विकास तो हुआ ही साथ ही आलोचना के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य हुआ। हालांकि इस समय हिन्दी आलोचना का गंभीर एवं तार्किक रूप तो विकसित नहीं हुआ, लेकिन अनेक आलोचना-पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुईं, उदाहरण के लिए शास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना, निर्णयात्मक आलोचना और अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना आदि।

रीतिकालीन लक्षण–ग्रन्थों की परम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक रचनाकारों ने इस युग में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की जिससे सैद्धांतिक एवं शास्त्रीय समीक्षा समृद्ध हुई। जिसमें लाला भगवानदीन कृत 'अलंकार मंजूषा' और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'रसकलश' इस काल के प्रमुख सैद्धान्तिक ग्रंथ हैं। प्राचीन सिद्धान्तों के अलावा अंग्रेजी, फारसी और उर्दू आदि भाषा-साहित्यों के संपर्क और युगीन प्रभावों के परिणामस्वरूप कई नई बातों का समावेशन हुआ जिससे नवीन सिद्धान्तों की रचना में सहायता मिली। इस दृष्टि से इस युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी, पन्नालाल बख्शी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास और गुलाब राय जैसे महत्त्वपूर्ण आलोचक उभर कर सामने आये। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'रसज्ञरंजन'[6] में विषय के अनुकूल छंदयोजना, सरल भाषा के प्रयोग, अर्थ गांभीर्य, नैतिकता, मर्यादा और देश प्रेम पर विषेश बल दिया। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी भाषा, साहित्य और आलोचना को नयी दिशा प्रदान की।

द्विवेदी युग में ही तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक आलोचना की भी शुरुआत हो गई थी। इस क्षेत्र में पद्म सिंह शर्मा, मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन और कृष्ण बिहारी मिश्र ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सर्वप्रथम पद्म सिंह शर्मा ने 'बिहारी' और फारसी–कवि 'सादी' की तुलनात्मक आलोचना की। इसके बाद मिश्रबंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में तुलनात्मक आधार पर हिन्दी के कवियों सूर, तुलसी, देव, बिहारी, केशव, भूषण, सेनापति, चंद, हरिश्चंद्र को क्रमवार करके उनकी आलोचना प्रकाशित की। हालांकि उनके क्रम-निर्धारण में बदलाव भी होता रहा। लेकिन मिश्रबंधुओं ने देव को बिहारी से ऊँचा कवि माना तथा इसके जवाब में पद्म सिंह शर्मा ने 'बिहारी' को बड़ा सिद्ध किया । यहाँ से हिन्दी आलोचना में 'तुलना' को लेकर विवाद पैदा

हो गया। 'तुलना' के मैदान में कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी आ गये। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' आलोचनात्मक पुस्तक लिखकर बिहारी को बड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया जबकि कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' पुस्तक के माध्यम से देव को श्रेष्ठ साबित किया। इस तरह हिन्दी आलोचना में एक नया मोड़ आया। इस तुलनात्मक समीक्षा से एक ऐसा रास्ता निकला जिसमें प्राचीन सिद्धान्तों के आलोक में हिन्दी कवियों की व्यावहारिक समीक्षा की गई।

द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना का विकास सरस्वती पत्रिका के अलावा नागरी प्रचारिणी पत्रिका, समालोचक, इन्दु और माधुरी जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से भी हुआ। 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में जगन्नाथदास रत्नाकर ने अंग्रेजी साहित्यकार पोप के 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद 'समालोचनादर्श' नाम से प्रकाशित कराया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' जैसे लेखों से व्यावहारिक समीक्षा का रूप विकसित किया। हालांकि महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यावहारिक समीक्षा की आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह कहकर की थी कि 'यह एक मुहल्ले की बात दूसरे मुहल्ले तक' पहुंचाने का कार्य है।[7] लेकिन महावीर प्रसाद द्विवेदी ने समालोचना का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए जो लिखा है वह विचारणीय है। वे लिखते हैं–''किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुंच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यह विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।"[8]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल पूर्व युगीन हिन्दी आलोचना विभिन्न पद्धतियों को विकसित करते हुए समृद्ध हुई। भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना जहाँ सैद्धांतिक रूप से विकसित हुई थी वहीं द्विवेदी युग में सैद्धांतिक समीक्षा के साथ व्यावहारिक समीक्षा भी विकसित हुई। अतः मोटे तौर पर कहा जाय तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल युगीन आलोचना के आने तक हिन्दी आलोचना सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में प्रारम्भ हो चुकी थी।

1.3 आचार्य रामचंद्र शुक्ल युगीन हिन्दी आलोचना

द्विवेदी युग में ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षा की व्याख्यात्मक पद्धति विकसित हो गयी थी। इस युग की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा को विकसित करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है "यद्यपि द्विवेदी युग में विस्तृत समालोचना का मार्ग प्रशस्त हो गया था किंतु वह आलोचना भाषा के गुण–दोष, विवेचन, रस, अलंकार आदि की समीचीनतः आदि बहिरंग बातों तक ही सीमित थी। उसमें स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखायी जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।"[9] समालोचना की यह कमी शुक्ल युगीन हिन्दी आलोचना, मुख्य रूप से आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना से दूर हुई। इस युग में आलोचकों का ध्यान गुण–दोष कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःवृत्ति के मूल्यांकन की ओर गया। इसे प्रामाणिक रूप से आचार्य शुक्ल की सूर, जायसी, और तुलसी सम्बन्धी समीक्षाओं में देखा जा सकता है। इन समीक्षाओं में आचार्य शुक्ल के गंभीर अध्ययन, वस्तुनिष्ठ विवेचन, संवेदनशील हृदय और प्रखर बौद्धिकता का समन्वय दिखाई पड़ता है। इसके अलावा प्राचीनता और नवीनता के समुचित समन्वय से प्राप्त प्रगतिशील विचारधारा, रसवादी, नीतिवादी, मर्यादावादी और लोकवादी दृष्टि का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। इसी कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी आलोचना में एक ऐसे आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुए जिसमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा का श्रेष्ठ रूप दिखायी पड़ता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी आदि मध्यकालीन कवियों और छायावादी काव्यधारा का गंभीर मूल्यांकन करके जहाँ व्यावहारिक आलोचना का आदर्श प्रस्तुत किया और हिन्दी आलोचना को विकासोन्नत बनाया वहीं 'चिंतामणि' और 'रसमीमांसा' जैसे सैद्धांतिक पुस्तकों से सैद्धांतिक आलोचना को प्रतिष्ठा और ऊँचाई प्रदान की। 'कविता क्या है', 'काव्य में रहस्यवाद', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', और 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आदि निबंधों में आचार्य शुक्ल ने अपनी काव्यशास्त्रीय बौद्धिकता और स्वतंत्र चिंतन शक्ति के साथ-साथ भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विशद् एवं गंभीर ज्ञान तथा व्यापक लोकानुभव और गहरी लोक संस्कृति का जो परिचय दिया, वह अपने आप में श्रेष्ठ है।

हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समकालीन आलोचकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इनमें कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गुलाबराय और लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का नाम प्रमुख है। कृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव की काव्य कला' में केशव तथा 'कविवर रत्नाकर' में जगन्नाथदास रत्नाकर की जीवनी और उनके काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया। इसी प्रकार विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' और 'बिहारी की वाग्विभूति के अलावा बिहारी, केशव, घनानंद, भूषण और रसखान की विस्तृत समीक्षा लिखकर हिन्दी आलोचना के विकास में महत्त्वूर्ण योगदान दिया। लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और उसके प्रकाश में भारतीय काव्यशास्त्र और हिन्दी के नवीन काव्य पर विचार किया।

बाबू गुलाब राय ने 'सिद्धान्त और 'अध्ययन', 'काव्य के रूप' और 'नवरस' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों के माध्यम से हिन्दी की सैद्धांतिक आलोचना को मजबूत किया। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ही तरह भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समन्वय से नवीन आलोचना-सिद्धान्तों को विकसित किया। गुलाब राय लिखते हैं – 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप' में परिभाषा देने में मैने देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषाएं दी हैं।[10]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समकालीन आलोचकों में श्यामसुन्दर दास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में कार्य किया, परंतु वे आचार्य शुक्ल की तरह दोनों का समन्वय नहीं कर सके। श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' नामक आलोचनात्मक पुस्तक में भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय करके साहित्य आलोचना को समृद्ध बनाया। 'रूपक रहस्य', 'कबीर ग्रंथावली की भूमिका', हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि जैसे व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से श्यामसुंदर दास ने हिन्दी आलोचना को विकसित किया। इसके अलावा पीतांबर दत्त बड़थ्वाल का शोध कार्य हिन्दी आलोचना के लिए महत्त्वपूर्ण है। उन्हीं के साथ श्यामसुन्दर दास की सारी पुस्तकें हैं। बड़थ्वाल काशी विश्वविद्यालय के पहले डी.लिट्. हैं तब पीएच.डी. नहीं थी। निर्गुण काव्य पर उनकी थीसिस है। श्यामसुन्दर दास की अधिकांश पुस्तकों में वे सह संपादक हैं। हालांकि सारा काम उन्हीं का किया है।

1.4 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना के केन्द्र में वीरगाथाकाल से लेकर छायावादी काव्यधारा तक का साहित्य है। उनके समीक्षा–सिद्धान्त और काव्य के प्रतिमान मुख्यरूप से भक्तिकाव्य के आधार पर निर्मित हुए हैं। जिस समय आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आलोचक व्यक्तित्व अपने चरम पर था उसी समय व्यक्ति चेतना को केन्द्र में रखकर छायावादी काव्यधारा का विकास हुआ जिसकी आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तीखी आलोचना की। रसवादी, परम्परानिष्ठ, लोकमंगलवादी और मर्यादावादी रामचंद्र शुक्ल व्यक्ति के सुख–दुख, आशा-आकांक्षा, प्रेम–विरह और मानवीय सौन्दर्य के आकर्षण से परिपूर्ण छायावादी काव्य को अपेक्षित सहृदयता से न देख समझ सके। परिणामस्वरूप छायावादी कवियों को अपने पक्ष की प्रस्तुति के लिए आलोचनात्मक विवेक के साथ सामने आना पड़ा।

जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा ने छायावाद नाम की नयी काव्य प्रवृत्ति की विशेषताओं और उसकी आवश्यकताओं को अपनी काव्यात्मक पुस्तकों की भूमिकाओं में रेखांकित किया। इसके अलावा उन्होंने आलोचनात्मक निबंधों के माध्यम से आचार्य शुक्ल की इस धारणा का विरोध किया कि छायावादी कविता विदेशी कविता खासकर अंग्रेजी कविता की नकल और अभिव्यंजना की नयी पद्धति मात्र है। प्रसाद ने छायावाद को भारतीय परम्परा से जोड़ा तो पंत और महादेवी वर्मा ने उसे युग की आवश्यकता और मनुष्य की अन्तःवृत्ति की अदम्य अभिव्यक्ति के रूप में रेखांकित किया।

छायावादी कवियों की मान्यताओं और स्थापनाओं के स्पष्ट रूप सामने आ जाने पर बाद के आलोचकों को इस काव्यधारा को समझने में आसानी हुई। छायावाद को आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय, द्विवेदी और नगेन्द्र जैसे हिन्दी आलोचकों का सकारात्मक समर्थन मिला। इन आलोचकों ने आचार्य शक्ल की आलोचना परम्परा का विकास करते हुए उनके संदर्भों में अपनी स्वंतत्र और मौलिक दृष्टि को प्रस्तुत किया। शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना में स्वच्छंदतावादी, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक, शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक और मार्क्सवादी आलोचना आदि का भी विकास हुआ।

(क) स्वच्छंदतावादी हिन्दी आलोचना

स्वच्छंतावादी हिन्दी आलोचना का विकास हिन्दी की छायावादी काव्यधारा के मूल्यांकन के साथ हुआ। इससे पूर्व के आलोचकों ने छायावाद काव्य की नयी चेतना को सही एवं सकारात्मक परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा और न ही उसका ठीक से मूल्यांकन किया। छायावादी कवियों ने अपने काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए जहाँ काव्य सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया, वहीं नए आलोचकों को नए ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया जिससे स्वच्छंदतावादी काव्यालोचक का रूप विकसित हो सका।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के व्यापक प्रभाव के बावजूद आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने छायावाद को अपना समर्थन दिया और इस काव्यधारा को प्रभावशाली तरीके से स्थापित किया। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने छायावादी कवियों का समर्थन किया। वे लिखते हैं – 'काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है, उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन हैं।"[11] अपनी इस धारणा से आचार्य वाजपेयी ने छायावाद का मूल्यांकन किया। उन्होंने मजबूती के साथ स्पष्ट किया कि छायावाद का अपना जीवन-दर्शन है और अपनी भाव-संपत्ति है। उसमें अपने पूर्ववर्ती कविता की परिपाटीबद्धता, नैतिकता और स्थूलता के विरुद्ध नवोन्मेष अनुभूति युक्त कविता है। छायावादी कविता में आध्यात्मिक पक्ष के साथ राष्ट्रीय चेतना का स्वर भी है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की इन स्थापनाओं से छायावाद सम्बन्धी अनेक विवादों का समाधान हुआ। स्वच्छंदतावादी आलोचना को प्रतिष्ठित करने के कारण आचार्य वाजपेयी को 'स्वच्छंदतावादी' आलोचक तथा काव्य सौष्ठव पर बल देने के कारण 'सौष्ठववादी' आलोचक भी कहा गया। इनकी आलोचनत्मक पुस्तकों में 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्यः नए प्रश्न', 'जयशंकर प्रसाद', 'कवि निराला' और 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' प्रमुख हैं। इनमें उन्होंने छायावाद, स्वच्छंदतावाद और छायावादी कवियों – प्रसाद, पंत, निराला का मूल्यांकन किया। परिणाम स्वरूप हिन्दी आलोचना के विकास क्रम में नयी समीक्षा सिद्धान्त का निर्माण हो सका।

इसके बाद नगेन्द्र ने छायावादी काव्य का जो मूल्यांकन किया, उसने भी हिन्दी की स्वच्छंदतावादी आलोचना को समृद्ध किया। उनकी आलोचनात्मक पुस्तकों 'आधुनिक हिन्दी

कविता की प्रवृत्तियाँ, और 'सुमित्रानंदन पंत' से छायावादी आलोचक के रूप में नगेन्द्र की पहचान बनी। नगेन्द्र ने काव्य में आत्माभिव्यक्ति को महत्त्वपूर्ण माना और छायावाद को 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहा।[12] उन्होंने अपनी आलोचना से यह स्थापित किया कि भक्ति आंदोलन के बाद हिन्दी साहित्य में छायावाद एक बड़ा काव्यांदोलन था। पंत के काव्य का मूल्यांकन कर नगेन्द्र ने जहाँ उनके काव्य को समझने की नई दृष्टि दी, वहीं पंत की कविता से ही अपनी आलोचना के मूल्य भी निकाले। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ही तरह नगेन्द्र भी रसवादी आलोचक थे। रस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के साथ-साथ उन्होंने काव्यभाषा, काव्यबिम्ब, शैली विज्ञान आदि पर जो कार्य किया वह हिन्दी की सैद्धांतिक आलोचना को समृद्ध करने वाला है।

(ख) प्रभाववादी हिन्दी आलोचना

प्रभाववादी हिन्दी आलोचना के अंतर्गत आलोचक रचना को पढ़कर अपने मन पर पड़े प्रभावों को मार्मिक ढंग से व्यक्त करके पाठकों तक पहुंचाता है। परिणामस्वरूप इसकी आलोचना भी एक नयी रचना के समान आनंद देने लगती है। कभी–कभार आलोचना रचना के मूल विषय से भटक जाती है। इसी कारण प्रभाववादी हिन्दी आलोचना को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अच्छी आलोचना नहीं माना था। हिन्दी में प्रभाववादी आलोचना का प्रथम संकेत तो पद्म सिंह शर्मा के बिहारी सम्बन्धी मूल्यांकन में मिला था लेकिन इस आलोचना का पूर्ण विकास शांतिप्रिय द्विवेदी की आलोचना में दिखता है। उन्होंने छायावादी काव्य की आलोचना किसी सिद्धान्त में बंधकर नहीं बल्कि उसके स्वतंत्र आस्वादन के आधार पर की है। शांतिप्रिय द्विवेदी काव्य विशेष रूप से पंत के काव्य में अच्छाइयों का ही भावपूर्ण दर्शन किया है। इसी कारण जब वे पंत का मूल्यांकन करते हैं तब भावविह्वल हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनका गद्य, गद्यकाव्य में बदल जाता है। उनके अलावा नगेन्द्र की भी छायावादी समीक्षा में प्रभाववाद है, लेकिन संतुलन के कारण उसमें भावातिरेक कम है। हिन्दी आलोचना में प्रभाववादी समीक्षा अधिक सफल नहीं रही फलस्वरूप वह थोड़े समय तक ही सक्रिय रही।

(ग) मनोविश्लेषणवादी या अन्तश्चेतनावादी हिन्दी आलोचना

मनोविश्लेषणवादी आलोचना का सबंध फ्रॉयड, एडलर और युंग के अन्तश्चेतनावादी कला-सिद्धान्त से है, जो यह मानता है कि साहित्य और कलाएँ मनुष्य की दमित वासना की

अभिव्यक्ति हैं। उसके अनुसार मनुष्य की दमित वासनाओं का उदात्त रूप साहित्य एवं कला में व्यक्त होता है। दमित वासनाएँ काममूला होती हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचक कवि या रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन के आधार पर उसकी वासनाओं का विश्लेषण करता है। चूंकि वे वासनाएँ प्रवृत्तिमूलक और वैयक्तिक होती हैं। अतः यह माना जाता है कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति चेतना से अधिक है। इसमें सामाजिक चेतना का अभाव होता है। मनोविश्लेषणवादी आलोचक नैतिकता के प्रश्न को भी महत्त्व नहीं देता। वह मानता है कि व्यक्ति जैसा है, वही उसका वास्तविक रूप है और उसी रूप में साहित्य में चित्रित होना चाहिए। उसे रचनाकार द्वारा आदर्श और नैतिकता के आवरण में रखकर प्रस्तुत करना उचित नहीं है। इसी कारण मनोविश्लेषणवादी चरित्रों के अंतः सत्य पर विशेष बल देता है। वह आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को महत्त्व देता है।

हिन्दी आलोचना में मनोविश्लेषणवादी आलोचक के रूप में इलाचंद जोशी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने जहाँ 'साहित्य–सर्जना' आलोचनात्मक पुस्तक में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्थापना की वहीं 'विवेचना', 'विश्लेषण' और 'देखा–परखा' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से मनोविश्लेषणवादी व्यावहारिक आलोचना को प्रस्तुत किया। इनके अलावा अज्ञेय, नगेन्द्र और देवराज की भी आलोचना में मनोविश्लेषण का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अज्ञेय के 'त्रिशंकु', और 'आत्मनेपद' तथा देवराज के 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों ने मनोविश्लेषणवादी आलोचना का विकास सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप में किया।

(घ) ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना का विकास किया। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सत्यता को देखना आवश्यक समझा है। उनके अनुसार "आलोचना के लिए आवश्यक है कि आलोचक को अपनी जातीय परम्परा या सांस्कतिक विरासत का बोध हो।"[13] आचार्य द्विवेदी ने अपनी इस धारणा के अनुसार 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', और 'कबीर' जैसे आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने हिन्दी साहित्य को ठीक से समझने के लिए पूर्ववर्ती साहित्य परम्पराओं जैसे – संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश

के ज्ञान को आवश्यक माना। इसी कारण द्विवेदी जी ने 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप', 'भारत के प्राचीन कला-विनोद', और 'कालिदास की लालित्य योजना' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों के माध्यम से ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना को प्रस्तुत किया। ध्यान देने वाली बात है कि ऐतिहासिक–सांस्कृतिक आलोचना किसी रचना का मूल्यांकन इतिहास और संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में करती हैं। ऐतिहासिक आलोचना के अनुसार मानव-समुदाय की चेतना देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते हुए भी परम्परा युक्त होती है। इसी तरह सांस्कृतिक आलोचना भी रचना में सांस्कृतिक तत्त्वों की खोजबीन करती है और उसके सांस्कृतिक महत्त्व और अवदान को रेखांकित करती है। इसी आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने समीक्षात्मक ग्रन्थों में ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना को मुख्य विषय (प्रतिमान) बनाया।

इनके अलावा विश्वनाथप्रसाद मिश्र और परशुराम चतुर्वेदी की आलोचनात्मक पुस्तकों में ऐतिहासिक समीक्षा का विकास दिखाई पड़ता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'भूषण ग्रंथवाली' और परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तर : भारत की संत परम्परा' में ऐतिहासिक विवेचना को प्रस्तुत किया। हिन्दी के अनेक शोधकर्ताओं ने हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययनों से इस आलोचना पद्धति को समृद्ध किया।

(ङ) शास्त्रीय समीक्षा

महावीर प्रसाद द्विवेदी युग में शास्त्रीय अथवा सैद्धांतिक समीक्षा का विकास दो रूपों में हुआ। कुछ आलोचकों ने रीतिकालीन लक्षण–ग्रन्थों की परम्परा में विवेचनापूर्ण लक्षण ग्रन्थों की रचना की और कुछ ने संस्कृत एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समन्वय करके नए सिद्धान्त ग्रन्थों का निर्माण किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद तो नये लक्षण ग्रन्थों की रचना नहीं हुई, लेकिन भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्त–ग्रन्थों के अनुवाद और उनके आधार पर नए सिद्धान्तों की स्थापना का कार्य अवश्य हुआ। 'काव्यादर्श' (दण्डी), 'काव्यालंकार सूत्र' (वामन), 'ध्वन्यालोक' (आनंदवर्धन), वक्रोक्तिजीवितम् (कुंतक), 'काव्यप्रकाश' (मम्मट) आदि के साथ–साथ अरस्तू के 'पोएटिक्स' 'लांजाइनस' के 'ऑन द सब्लाइम' और होरेस के 'आर्स पोऐटिका' का अनुवाद करके हिन्दी की शास्त्रीय समीक्षा को समृद्ध किया गया। इस क्षेत्र में रामकुमार वर्मा का 'साहित्यशास्त्र', भगीरथ मिश्र का 'काव्यशास्त्र' और नंददुलारे वाजपेयी का 'नया साहित्य': नए प्रश्न' प्रमुख उल्लेखनीय आलोचनात्मक कार्य हैं। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी लिखते हैं

"यह सब कुछ होने पर भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का जैसा गंभीर, तात्विक, मर्मग्राही एवं संश्लिष्ट विवेचन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया है, उसका अभाव बना हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों में मात्र सामग्री उपस्थित की गई है, तत्त्व का विवेचन नहीं किया गया है।"[14]

(च) अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना

वर्तमान में इस आलोचना पद्धति के आधार पर विश्वविद्यालयों में अनेक शोधकार्य हो रहे हैं। उल्लेखनीय है कि इस आलोचना पद्धति की शुरुआत द्विवेदी युग में ही हो गयी थी तथा शुक्लोत्तर युग में इसका विकास हुआ। ऐसी आलोचना के विकास में पीतांबरदत्त बडथ्वाल के शोध प्रबंध 'निर्गुण संप्रदाय' : हिन्दी काव्य में निर्गुणवाद, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास', बलदेवप्रसाद मिश्र के 'तुलसी दर्शन', माताप्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास', लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' तथा फादर कामिल बुल्के के 'रामकथाःउत्पत्ति और विकास' आदि जैसे शोध ग्रन्थों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वर्तमान में भी यह समीक्षा पद्धति शोधार्थियों द्वारा प्रयोग में लायी जा रही है।

1.5 प्रगतिवादी – मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचकों का जब एक वर्ग छायावाद के समर्थन और प्रतिष्ठा में लगा हुआ था तब छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत 'युगांत' की रचना कर एक नए युग का संकेत करने में लगे थे। छायावादी कवियों को कल्पना की जगह अब वास्तविकता का अनुभव होने लगा था। इसी समय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिसके प्रथम अध्यक्ष प्रेमचंद थे। प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ जिसमें प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्य के नए उद्देश्यों और सौन्दर्य के प्रतिमानों पर विस्तार से चर्चा किया।[15] इसी के साथ प्रगतिशील लेखन और मूल्यांकन का दौर प्रारम्भ हुआ। प्रगतिशील आंदोलन का वैज्ञानिक आधार मार्क्सवादी दर्शन है जो वस्तु जगत को ही चरम सत्य मानकर उसके विकास की पहल करता है।

मार्क्सवादियों के अनुसार प्रत्येक युग का कलाकार या रचनाकार जाने–अनजाने उस वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें उसका विकास होता है। यह दुनिया दो वर्गों में बंटी हुई है – एक, शोषक वर्ग है, दूसरा शोषित वर्ग। शोषक वर्ग का पूंजी पर एकाधिपत्य है और शोषित वर्ग अपने अथक श्रम के बावजूद हर तरह से दीन–हीन और विपन्न है। यही सर्वहारा वर्ग है। मार्क्सवाद मानता है कि पूंजीवाद को मिटाकर साम्यवाद की स्थापना करना धर्म है। मार्क्सवादी रचनाकार का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी रचना के माध्यम से सर्वहारा के स्वाभिमान को मुख्य विषय बनाकर उसके अपने अधिकार के प्रति सचेत बनाये। मार्क्सवादी अवधारणा पर लिखित रचनाएं मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य कहलाती हैं और रचना का मूल्यांकन करने की प्रक्रिया को मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना कहा जाता है।

मार्क्सवादी विचार–दर्शन से प्रेरित होकर प्रारम्भ में जिन आलोचकों ने मार्क्सवादी आलोचना का स्वरूप विकसित किया उनमें शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त और रामविलास शर्मा के नाम प्रमुख हैं। शिवदान सिंह चौहान ने 'प्रगतिवाद', साहित्य की परख', 'आलोचना के मान', 'साहित्य की समस्याए' और 'साहित्यानुशीलन' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों में मार्क्सवादी–विचार–दर्शन पर रचनाओं का मूल्यांकन किया। प्रकाशचंद गुप्त ने भी मार्क्सवादी विचार दर्शन के आधार पर 'हिन्दी साहित्य', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य की जनवादी पंरपरा' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों को लिखा। रामविलास शर्मा ने

'प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' 'आस्था और सौन्दर्य' जैसे आलोचनात्मक पुस्तकों से हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का स्वरूप विकसित किया। हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचना ने रचना की सामाजिक उपयोगिता और महत्ता की कोशिश की। इनके अनुसार वे रचनाएं सर्वोच्च और सार्थक हैं जिनमें जनकल्याण की भावना समाहित हो। वे रचनाएं सामाजिक परिवर्तन में मुख्य भूमिका निभाती हों। मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोकमंगल भावना को प्रगतिशील साहित्यालोचन के केन्द्र में रखकर जिस तरह परम्परा का मूल्यांकन किया है, वह हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है।

1.6 नयी आलोचना/नयी समीक्षा (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना)

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचना का विकास हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में जिस तरह का बदलाव दिखायी पड़ता है उसे मूल्यांकन के लिए नए प्रतिमान एवं मूल्यों की आवश्यकता पड़ी। परिणामस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना का बहुआयामी विकास हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पहले से चली आ रही मार्क्सवादी आलोचना का अधिक विकास हुआ। प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा की अधिकतर आलोचनात्मक पुस्तकों का प्रकाशन भी स्वतंत्रता के बाद ही हुआ। उन्होंने आलोचक रामचंद्र शुक्ल, उपन्यास सम्राट प्रेमचंद और क्रांतिकारी कवि निराला पर लिखकर अपने आलोचक–कर्म का संकेत दिया, एक तरह से उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना को हिन्दी आलोचना के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना', 'प्रेमचंद और उनका युग', 'निराला की साहित्य साधाना' उनकी श्रेष्ठ आलोचना पुस्तकें हैं जिनमें उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य की नयी व्याख्या प्रस्तुत की, लेकिन ध्यान देने वाली बात है कि आगे चलकर रामविलास शर्मा ने 'आस्था और सौन्दर्य' नामक पुस्तक लिखकर यह प्रमाणित किया कि वे जड़ या घोर मार्क्सवादी आलोचक नहीं हैं। उन्होंने 'सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' निबंध में सौन्दर्य की वस्तुगत व्याख्या करते हुए भी सौंदर्य को व्यक्त या विषय मानने के बजाय संयुक्त रूप से दोनों में स्वीकार किया।'[16] रामविलास शर्मा ने यह माना कि साहित्य शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है। उन्होंने निराला की साहित्य साधना, भाग–2 में निराला की विचारधारा के साथ–साथ उनकी कलात्मक सजगता और उत्कृष्टता की भी व्याख्या की। इस प्रकार रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना को विचारधारात्मक और कलात्मक विश्लेषण से जोड़कर उसे पूर्णता प्रदान करने की सार्थक कोशिश की और रचना के वस्तु और रूप को समान महत्त्व प्रदान किया।

रामविलास शर्मा के अलावा हिन्दी मार्क्सवादी आलोचना के विकास में योगदान देने वालों आलोचकों में गजानन माधव मुक्तिबोध, नामवर सिंह, रांगेय राघव, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, शिवकुमार मिश्र आदि के नाम प्रमुख हैं। मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार', नयी कविता का आत्मसंघर्ष' तथा अन्य निबंध', और 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से हिन्दी मार्क्सवादी आलोचना को एक नई ऊँचाई प्रदान की है।

मुक्तिबोध ने छायावादी काव्य के प्रति सकारात्मक दृष्टि अपनाया और उसकी प्रगतिशील भूमिका की प्रशंसा की। इन्होंने एक सुलझे हुए मार्क्सवादी आलोचक के रूप में रचना की सापेक्ष स्वायत्तता स्वीकार की और मार्क्सवादी दृष्टि से 'कामायनी' की जो समीक्षा की वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मुक्तिबोध ने अपने से पूर्व और बाद के 'कामायनी' पर लिखने वाले आलोचकों की गलतफहमियों को दूर किया। खासकर अपने पूर्व के 'कामायनी' पर लिखने वाले आलोचकों की भ्रांतियों को उन्होंने रेखांकित किया।

मुक्तिबोध ने कामायनी को द्विअर्थक रचना न मानकर एक फैंटेसी[17] माना और यह स्थापित किया कि कामायनी इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसमें मनु को देश–कालातीत, शाश्वत मानव का रूप दिया गया, बल्कि इसकी महत्ता इसमें है कि उसमें पूंजीवादी ह्रासमान सभ्यता के भीतर व्यक्ति के भीतरी विकेन्द्रीकरण का सवाल जोरदार ढंग से उठाया गया है।[18] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि इड़ा बुद्धिवाद की प्रतीक न होकर पूंजीवाद की प्रतिनिधि है।[19] मुक्तिबोध ने 'कामायनीः एक पुनर्विचार के माध्यम से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में जोरदार ढंग से प्रवेश किया, यह कहना गलत न होगा। हालांकि मुक्तिबोध ने अपना आलोचना–कर्म व्यावहारिक आलोचना से जरूर प्रारम्भ किया लेकिन धीरे–धीरे वे रचना की रचना–प्रक्रिया और शिल्प प्रक्रिया का गंभीरता से विश्लेषण करते गए। उनकी 'एक साहित्यिक की डायरी' और 'नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों ने कला–सिद्धान्तों की ऐसी रूप–रेखा प्रस्तुत कर दी जो फिलहाल हिन्दी आलोचना में एक मानक बनी हुई है।

मुक्तिबोध के साथ ही नामवर सिंह ने भी हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का विकास किया। उन्होंने 'छायावाद', 'कविता के नए प्रतिमान', 'दूसरी परम्परा की खोज', और 'वाद–विवाद संवाद' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से हिन्दी आलोचना में अपना प्रमुख स्थान बनाया। प्रायः यह माना जाता है कि नामवर सिंह की आलोचना विवेक का विस्तार रसवादी समीक्षक नगेन्द्र, मार्क्सवादी समीक्षक रामविलास शर्मा और कलावादी समीक्षक अशोक वाजपेयी से लगातार वाद–विवाद करने से हुआ।

नामवर सिंह ने 'छायावाद' आलोचनात्मक पुस्तक में छायावादी कविता के भाव और शिल्प की महत्त्वपूर्ण समीक्षा की है जो हिन्दी आलोचना में एक मिसाल के तौर पर प्रतिष्ठित हैं। इस पुस्तक को लिखकर नामवर सिंह ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद छायावाद सम्बन्धी

मूल्यांकन के साथ उठे विरोध को समाप्त कर दिया। इसके बाद 'दूसरी परम्परा की खोज' में नामवर सिंह ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को आमने–सामने रखकर जहाँ अपनी प्रगतिशील आलोचना को प्रतिष्ठित किया, वहीं अनेक विवादों को जन्म भी दिया। नामवर सिंह की आलोचना की एक विशेषता है कि वे साहित्यालोचना में विवाद पैदा करके अपनी आलोचना पद्धति को विकसित करते हैं। वे इस शैली के इकलौते 'मास्टर' हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उनकी आलोचनात्मक पुस्तक 'वाद–विवाद–संवाद है। इसमें उनके प्रमुख आलोचनात्मक निबंध हैं – जनतंत्र और समालोचना', 'आलोचना की स्वायत्तता', 'प्रासंगिकता पर पुनश्चःप्रलय की छाया' और 'आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना' आदि। इनके माध्यम से नामवर सिंह ने आलोचना को नए सरोकारों से जोड़ते हुए भविष्य की आलोचना को सचेत किया। वह उनकी आलोचना कर्म का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

मार्क्सवादी हिन्दी आलोचना परम्परा में रांगेय राघव का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके आलोचनात्मक लेख 'प्रगतिशील साहित्य के मापदण्ड, काव्य, यथार्थ और प्रगति' तथा काव्य के मूल विवेच्य' उल्लेखनीय हैं। रांगेय राघव को प्रतिबद्ध मार्क्सवादी आलोचक माना जाता है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में मार्क्सवादी आलोचना के समानान्तर 'नयी समीक्षा' का भी विकास हो रहा था। छायावादी काव्यचेतना की प्रतिक्रिया में उठी हुई प्रगतिवादी रचना और आलोचना क्रमिक या उत्तरोत्तर विचारधारा के गिरफ्त में आती गयी। 1943 के आस–पास यह अनुभव होने लगा था कि 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' दोनों की सीमाओं से साहित्य और आलोचना को मुक्त होना आवश्यक है। ठीक इसी समय अज्ञेय के संपादन में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ।

तारसप्तक की भूमिकाओं में कवियों को 'राहों का अन्वेषी' कहा गया।[20] कवि–कर्म का उद्देश्य जीवन–जगत के नये–नये क्षेत्रों को उद्‌घाटित करना और उन्हें नए भाषा–संकेतों, नए बिम्बों, नए प्रतीकों और उपमानों के माध्यम से नए ढंग से प्रस्तुत करना था। इस काव्यधारा की मूल प्रेरणा प्रयोगशीलता थी इसी कारण इसके कवियों को प्रयोगवादी कहा गया। लेकिन अज्ञेय ने अपने साक्षात्कार में प्रयोगवादी कहलाना अतार्किक बताया है। उनका कहना है कि 'हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही गलत है जितना कवितावादी कहना।[21] इसके बावजूद नए–भाव बोध या आधुनिक बोध वाली कविताओं को 'नयी कविता' कहा गया।

अज्ञेय ने 'तारसप्तक' की भूमिका में 'जीवन की जटिलता', 'स्थिरता परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति', 'कवि की उलझी हुई संवेदना', 'साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या' जैसी अनेक नयी बातों की ओर अपने समकालीनों का ध्यान खींचा। इसके साथ ही नए भाव बोध से लिखी गई कविताओं के लिए नए आलोचना–प्रतिमानों की आवश्यकता पर बल दिया। वे 'तारसप्तक' की भूमिका में लिखते हैं – "नयी कविता का अपने पाठक और स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मानकर कि शास्त्रीय आलोचकों से उसका सहानुभूतिपूर्ण तो क्या पूर्वाग्रहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की मांग यह है कि कविगण एक दूसरे के आलोचक बनकर सामने आए।"[22] कवियों को आलोचना कर्म के लिए प्रेरित करना अज्ञेय की यह कोशिश नयी या पहली बार नहीं थी। ध्यान देने वाली बात है कि इससे पहले छायावादी कवियों ने यह कार्य किया था। यदि छायावादी कवियों ने अपनी काव्यालोचना से काव्यसम्बन्धी मान्यताओं और धारणाओं को ठीक से स्पष्ट न किया होता तो शायद उस काव्य का आलोचकों द्वारा न्यायोचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। अज्ञेय इससे पहले ही परिचित थे। उन्हें यह मालूम था कि नए भावबोध की रचनाओं को समझने में आलोचकों से चूक हो सकती है। इसी कारण अज्ञेय ने अपनी काव्य पुस्तकों की भूमिकाओं तथा 'भवन्ती', 'त्रिशंकु' और 'आत्मनेपद' आदि वैचारिक गद्य कृतियों में अपनी काव्य दृष्टि का स्पष्ट विवेचन किया। उन्होंने अपनी कविता के साथ ही अन्य समकालीनों की भी समीक्षाएं लिखीं। अज्ञेय की आलोचना दृष्टि पाश्चात्य आलोचक टी.एस. इलियट से प्रभावित है। उन पर इलियट के 'निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त' का गहरा प्रभाव है। अज्ञेय की आलोचना के केन्द्र में अनुभव की अद्वितीयता, वरण की स्वतंत्रता, व्यक्ति स्वातंत्र्य, सम्प्रेषणीयता, स्वधीन चेतना, परम्परा और आधुनिकता, सर्जनात्मक क्षमता, रचना की स्वायत्तता, प्रयोगशीलता, आत्माभिव्यक्ति आदि हैं। इनके आलोचना कर्म के माध्यम से हिन्दी को नए भावबोध को व्यक्त करने वाली नयी शब्दावली भी मिली। अज्ञेय पर इलियट के अलावा अस्तित्त्ववाद, मनोविश्लेषणवाद और अंग्रेजी की नयी समीक्षा का प्रभाव है।

1954 ई. में 'नयी कविता' पत्रिका के साथ ही 'नयी कविता' की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। उसी के साथ हिन्दी में 'नयी समीक्षा' का रूप उभरकर सामने आया। इससे पहले 1953 ई. में विजयदेव नारायण साही ने नयी कविता को कुत्सित समाजशास्त्रीय व्याख्या से मुक्त करने का

प्रयास किया था। वे नऐ लेखकों को एक ऐसी भावभूमि पर लाने का आह्वान कर चुके थे जहाँ लेखक अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए सामाजिकता को ग्रहण कर सके। नयी समीक्षा के आने तक हिन्दी कविता दो वर्गों में विभाजित हो चुकी थी– एक धारा आधुनिकतावादियों की थी और दूसरी उन यथार्थवादियों की जो मार्क्सवाद को केन्द्र में रखकर दलितों–शोषितों को सभी प्रकार के शोषणों से मुक्त करना चाहते थे। यही उनकी साहित्य–कर्म की सार्थकता थी। जाहिर था कविता के विभाजन का प्रभाव समीक्षा पर पड़ना था। परिणामस्वरूप हिंन्दी समीक्षा की दो धाराएं स्पष्ट रूप से विभाजित हो गयीं। एक, आधुनिकतावादी धारा जिसे नयी समीक्षा कहा गया, दूसरी, मार्क्सवादी समीक्षा जिसकी परम्परा पहले से ही चली आ रही थी। इस समय की नयी समीक्षा के केन्द्र में अज्ञेय थे और मार्क्सवादी समीक्षा के केन्द्र में मुक्तिबोध। इस शोध प्रबंध में इन दोनों आलोचकों की समीक्षा का विस्तार से तुलनात्मक अध्ययन करना ही प्रमुख उद्देश्य है।

आंग्ल–अमरीकी 'नयी समीक्षा' ने हिन्दी नयी समीक्षा को कैसे प्रभावित किया इसे समझना आवश्यक है। टी.एस. इलियट, आई.ए. रिचर्ड्स, जॉन क्रो रेन्सन, एलेन टेट, राबर्ट पेन वारेन, आर.पी. लेकमर और क्लीन्थ बुक्स आदि ने 'नयी समीक्षा' का जो शास्त्र और दर्शन निर्मित किया वह इस प्रकार है–[23]

1. रचना एक पूर्ण एवं स्वायत्त भाषिक संरचना है। इसलिए भाषा के सर्जनात्मक तत्त्वों का विश्लेषण ही समीक्षा का मुख्य कार्य है।
2. ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय, दार्शनिक एवं विश्लेषणवादी समीक्षाएँ आवश्यक एवं अप्रासंगिक है। क्योंकि ये साहित्येतर प्रतिमान हैं।
3. रचना का मूल्यांकन रचना के रूप में ही करना उचित है।
4. रचना की आंतरिक संगति और संश्लिष्ट विधान के विवेचन–विश्लेषण के लिए उसका गहन पाठ आवश्यक है।

उल्लेखनीय है कि कोलंबिया विश्वविद्यालय के तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर स्पिन गार्न ने 1911 में 'नयी समीक्षा' (New Criticism) नाम से एक शोध–पत्र लिखा जो 1913 में प्रकाशित हुआ था। इसमें क्लासिकल, रोमैंटिक, समाजशास्त्रीय, जीवन मूलक आदि समीक्षा–पद्धतियों

को नकारते हुए यह स्थापित किया गया कि समीक्षा वस्तुतः एक वैयक्तिक प्रतिक्रिया (Subjective Reaction) है जो जीवन्त अन्तर्दृष्टि (Vivid intution) पर आधारित होती है।

रिचड्र्स और इलियट ने यह माना कि कविता की व्याख्या कविता के रूप में ही होना चाहिए, अन्य कारणों से उसे महत्त्वपूर्ण मानना सही नहीं है। क्लींथ ब्रुक्स ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उनके अनुसार – "यह बात एकदम सही है कि आधुनिक आलोचकों की दृष्टि फिर से कृति के पाठ पर ध्यान केन्द्रित करने की ओर गई है अर्थात् कविता को कविता की तरह देखना न कि उसे कवि की जीवनगाथा के परिशिष्ट के रूप में।"[24] आंग्ल–अमरीकी नयी समीक्षा के अन्तर्गत क्लींथ ब्रुक्स ने भाषागत वैशिष्ट्य को 'विसंगति और विडम्बना' के रूप में, टेट ने तनाव के रूप में तथा ब्लैकमर ने 'टेक्सचर और स्ट्रक्चर के द्वन्द्व' के रूप में रेखांकित किया।

हिन्दी के नये समीक्षकों पर भी आंग्ल–अमरीकी नयी समीक्षा का प्रभाव पड़ा। हिन्दी के आलोचकों ने जटिल भाव बोध एवं कलात्मक उपादानों से युक्त काव्यभाषा वाली कविता के लिए समीक्षा की पारंपरिक प्रणाली से अलग समीक्षा का अनुभव किया। परिणामस्वरूप हिन्दी आलोचना में 'नयी समीक्षा' का प्रसार हुआ। आधुनिक भावबोध को आलोचना के केन्द्र में रखकर समीक्षा करने वालों में अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, मलयज, रामस्वरूप चतुर्वेदी, अशोक वाजपेयी और रमेशचंद शाह का नाम उल्लेखनीय है। इन समीक्षकों ने युगीन परिवेश में मौजूद विसंगति, विडम्बना, असहायता, एकाकीपन, ऊब, अजनबीपन, संत्रास और कुंठा का विश्लेषण करने के साथ ही अनुभूति की प्रामाणिकता और व्यक्तित्त्व की अद्वितीयता' को भी चिह्नित किया। इन आलोचकों ने रचना को भाषिक सर्जना मानकर काव्य–भाषा के मूल्यांकन को आलोचना का मुख्य विषय बनाया।

अज्ञेय ने भवंती, आत्मनेपद, आलवाल और अद्यतन जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से नयी समीक्षा का विकास किया। इनके अलावा नयी कविता के प्रतिमान (लक्ष्मीकांत वर्मा) 'हिन्दी नवलेखन', काव्यधारा के तीन निबंध, भाषा और संवेदना, सर्जना और भाषिक संरचना (रामस्वरूप चतुर्वेदी), मानव मूल्य और साहित्य (धर्मवीर भारती), साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य (रघुवंश), नयी कविता : सीमाएं एवं संभावनाएं (गिरिजा कुमार माथुर) नयी कविता स्वरूप और

समस्याएं (जगदीश गुप्त), कविता से साक्षात्कार, संवाद एवं एकालाप (मलयज), समानान्तर, वागर्थ, सबद निरंतर (रमेश चंद शाह) और फिलहाल (अशोक वाजपेयी) आदि समीक्षक एवं समीक्षाएं उल्लेखनीय हैं।

हालांकि नयी समीक्षा का दौर अधिक समय तक नहीं रह सका, लेकिन इसने हिन्दी आलोचना को इतना प्रभावित किया कि इससे मार्क्सवादी आलोचक भी अपने को दूर न रख सके। परिणामस्वरूप इसका प्रभाव मुक्तिबोध की कामायनी : एक पुनर्विचार, नामवर सिंह की कविता के नये प्रतिमान और रामविलास शर्मा की निराला सम्बन्धी मूल्यांकन में देखा जा सकता है। 'कविता के नये प्रतिमान' में काव्यधारा की सृजनशीलता, काव्य–बिंब, काव्यनुभूति की जटिलता और तनाव, विसंगति और विडम्बना का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इसके विषय में नेमिचंद्र जैन लिखते हैं'– "नामवर सिंह का विश्लेषण उस प्रवृत्ति को समर्थन देता जान पड़ता है, जिसका मूल्यों से, किसी सामाजिक सार्थकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[25]

नयी समीक्षा के बाद एक और समीक्षा पद्धति का विकास हुआ जिसे शैली विज्ञान कहा गया। यह भाषिक विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें भाषा के सभी उपादानों–शब्द, पद, वाक्य, ध्वनि और छंद को अध्ययन का विषय बनाया जाता है। हिन्दी में इस आलोचना पद्धति को प्रतिष्ठित करने का श्रेय रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव को है। श्रीवास्तव ने इस पद्धति में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों में आलोचनाएं की। शैली विज्ञान की जगह रीति विज्ञान पद्धति का विकास विद्यानिवास मिश्र ने किया। हालांकि इस पद्धति को हिन्दी आलोचना में महत्त्व नहीं मिला।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने शैली विज्ञान समीक्षा का व्यावहारिक रूप केदारनाथ सिंह की कविता 'इस अनागत का करें क्या' की समीक्षा करके प्रस्तुत किया। बाद में आलोचक बच्चन सिंह ने इस शैली को कविता की 'शव–परीक्षा' कर खारिज कर दिया। शैली विज्ञान के बाद हिन्दी आलोचना में संरचनावाद की भी चर्चा हुई। इसके केन्द्र में भाषिक संरचना थी। इसके प्रतिष्ठापक पेरिस के सस्यूर थे। यह आलोचनात्मक पद्धति हिन्दी आलोचना में सफल नहीं हो पायी।

नयी समीक्षा, शैली विज्ञान और संरचनावाद के साथ हिन्दी आलोचना में सर्जनात्मक आलोचना की भी काफी चर्चा हुई। आलोचना की सृजनशीलता पर मुक्तिबोध ने लिखा है – "आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुतः कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है, उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है

और उससे उबरना पड़ता है कि जिससे लहरों का पानी उसकी आखों में न घुस पड़ें।"[26] उनकी दृष्टि में जीवन सत्यों पर आधारित साहित्य समीक्षा स्वयं एक सृजनशील कार्य है। वह न केवल लेखक बल्कि पाठकों को भी जीवन सत्यों से परिचय कराती है। इसी कारण मुक्तिबोध आलोचना को रचना की पुनर्सृष्टि मानते हैं। इससे सहमति प्रकट करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं – "आलोचक जब आलोच्य कृति के संपूर्ण कथ्य को कथन मात्र के रूप में स्वीकार करके आलोचना–कर्म में प्रवृत्त होता है तो उस पर काव्य–कथन सम्बन्ध में प्रवेश करने की कठिन जिम्मेदारी आ जाती है। तादाम्य के रूप में प्रस्तुत कथ्य–कथन के बीच वह एक तरह से सेंध लगाता है और अन्तर्निर्मित तनाव की तलाश करता है। आलोचक की यह तलाश ही उसकी सृजनशीलता है।"[27]

मुक्तिबोध यह मानते हैं कि रचना में सृजनशीलता उसके कलात्मक सौंदर्य से आती है। उनके अनुसार – "कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुजरकर ही कृति के मर्म क्षेत्र में विचरण किया जा सकता, अन्यथा नहीं।"[28] दोनों तरह के आलोचकों चाहे वह मार्क्सवादी हों या रूपवादी सभी ने सर्जनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया। हालांकि दोनों के तत्सम्बन्धी अवधारणा में अंतर है। मार्क्सवादी जहाँ रचना के आंतरिक रचना–कर्म को उद्घाटित कर सृजनात्मक आलोचना की बात करता है, वहीं रूपवादी रचना के सर्जनात्मक तत्त्वों के विश्लेषण को सर्जनात्मक आलोचना का कार्य मानता है। निःसंदेह सर्जनात्मक आलोचना ने हिन्दी आलोचना के विकास में योगदान दिया। इस आलोचना का प्रथम लक्षण आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना में दिखता है, लेकिन मुक्तिबोध की आलोचनात्मक पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' सर्जनात्मक आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। इनके अलावा नन्ददुलारे वाजपेयी और मलयज की आलोचनाएं भी सर्जनात्मक आलोचना के उदाहरण हैं।

हिन्दी आलोचना के विकास में समाजशास्त्रीय आलोचना का भी योगदान है। इस आलोचना को प्रतिष्ठित करने में श्रीराम मेहरोत्रा का 'साहित्य का समाजशास्त्र' नगेन्द्र का 'साहित्य का समाजशास्त्र', बच्चन सिंह का 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन' और मैनेजर पाण्डेय का 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों का योगदान है। समाजशास्त्रीय आलोचना के विषय में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं "साहित्य का समाजशास्त्र

व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील संपूर्ण साहित्य–प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणतियों की व्याख्या करते हुए साहित्य के वास्तविक सामाजिक स्वरूप की पहचान कराता है और उसमें पाठकों की दिलचस्पी जगाता है। इस तरह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।"[29] साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना केवल रचना की व्याख्या नहीं करती बल्कि वह रचना की सामाजिक अस्मिता की भी व्याख्या करती है। यह साहित्य का समाज से रिश्ता ही नहीं मानती है, बल्कि इसके रिश्ते और उसकी प्रक्रिया को भी ठीक से पहचानने का प्रयास करती है।

समाजशास्त्रीय आलोचना के अंतर्गत व्यावहारिक समीक्षा का कोई उदाहरण हिन्दी आलोचना में नहीं दिखायी पड़ता है, लेकिन इस आलोचना पद्धति का प्रयोग शोध कार्यों के लिए खूब हो रहा हैं। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि समाजशास्त्रीय आलोचना की तरह मार्क्सवादी आलोचना में भी साहित्य और समाज के सम्बन्धों का गंभीरता से विश्लेषण होता है। मैनेजर पाण्डेय इस विषय में लिखते हैं कि मार्क्सवादी समीक्षा समाजशास्त्रीय समीक्षा की मीमांसावादी धारा है। इसकी दूसरी धारा अनुभववादी है जिसमें संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टियां सक्रिय रहती हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा समाजशास्त्रीय आलोचना की एक धारा है। आलोचना के क्षेत्र में समाजशास्त्रीय समीक्षा का क्षेत्र व्यापक है।

समकालीन हिन्दी आलोचना की समय–सीमा निर्धारण के विवादों में न जाकर सामान्यतया पिछले पच्चीस–तीस वर्षों में लिखी गई आलोचना को समकालीन हिन्दी आलोचना माना जाय तो इसमें अनेक प्रवृत्तियों, दृष्टियों और पद्धतियों का सक्रिय रूप से विकास हुआ। यदि देखा जाय तो इसमें भी मार्क्सवादी आलोचना का ही अधिक विकास हुआ। मार्क्सवादी समीक्षकों रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के साथ अनेक अन्य मार्क्सवादी समीक्षकों का उभार हुआ। जिसमें शिवकुमार मिश्र, धनंजय वर्मा, निर्मला जैन, नंद किशोर नवल, शंभुनाथ, मधुरेश, खगेन्द्र ठाकुर आदि प्रमुख हैं। मार्क्सवादी समीक्षकों में जनवादी समीक्षकों की एक अलग पीढ़ी निर्मित हुई जिसका प्रतिनिधित्व शिवकुमार मिश्र और मैनेजर पाण्डेय ने किया। इन समीक्षकों के अलावा वर्तमान में विश्वनाथ त्रिपाठी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी और अजय तिवारी आदि आलोचकों का आलोचना कर्म जारी है।

आधुनिक काल से हिन्दी आलोचना का आरंभ होने के बाद समय–समय पर अनेक आलोचकों ने अपनी उत्कृष्ट आलोचना–प्रतिभा और साहित्य की गहरी समझ से इसको नई ऊंचाई और प्रतिष्ठा प्रदान की है। भारतेन्दु युगीन आलोचकों, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, छायावादी कवियों की समीक्षा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, विजयदेवनारायण साही और मैनेजर पाण्डेय आदि ने हिन्दी आलोचना को अपनी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा से विकसित किया साथ ही उसे गतिशील रखा।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना रचना के अधिक निकट आ गई। रचना और आलोचना के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। वह चाहे काव्यालोचना हो, कथा समीक्षा हो या नाट्य समीक्षा हो। अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म से हिन्दी आलोचना और समृद्ध हुई। इससे आलोचक और सर्जक के बीच का अंतर समाप्त हुआ। रचनाकारों के आलोचक रूप सामने आ जाने से हिन्दी आलोचना को रचनात्मक समृद्धि मिली।

संदर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 308
2. हिन्दी के रचनाकार आलोचक – योगेश प्रताप शेखर, पृ. 16
3. हिन्दी गद्य का विकास – रामचंद्र तिवारी, पृ. 59
4. बिहारी 'रत्नाकर' – जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', पृ. 52
5. हिन्दी गद्य का विकास – रामचंद्र तिवारी, पृ. 98
6. रसारंजन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 63
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 335
8. महावीर प्रसाद द्विवेदी मोनोग्राफ – साहित्य अकादमी, पृ. 53
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 335
10. हिन्दी गद्य का विकास – रामचंद्र तिवारी, पृ. 112
11. वही, पृ. 107
12. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास – विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 125
13. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 58
14. हिन्दी गद्य का विकास – रामचद्र तिवारी, पृ. 112
15. साहित्य का उद्देश्य – प्रेमचंद, पृ. 15
16. आस्था और सौन्दर्य – रामविलास शर्मा, पृ. 25
17. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–4, पृ. 189
18. वही, पृ. 189
19. वही, पृ. 189
20. तारसप्तक की भूमिका – सं. अज्ञेय, पृ. 6
21. वही, पृ. 6
22. वही, पृ. 10
23. आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली – अमरनाथ, पृ. 190
24. वही, पृ. 190
25. नेमिचंद जैन मोनोग्राफ, साहित्य अकादमी, पृ. 52
26. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5, पृ. 24
27. इतिहास और आलोचना – नामवर सिंह, पृ. 27
28. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–4, पृ. 21
29. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – मैनेजर पाण्डेय, पृ. 22

अध्याय–दो

अज्ञेय का आलोचना–कर्म

2.1 अज्ञेय के आलोचना कर्म का विकास क्रम

2.2 अज्ञेय की सैद्धांतिक आलोचना

2.3 अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना

2.1 अज्ञेय के आलोचना कर्म का विकास क्रम

हिन्दी साहित्य में अज्ञेय का रचनाकर्म जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही उनका आलोचना कर्म भी। अज्ञेय के आलोचना कर्म का हिन्दी आलोचना के इतिहास में इसलिए उल्लेखनीय योगदान है कि उन्होंने छायावादी कवियों से भी अधिक नयी कविता के आस्वाद और मूल्यांकन के लिए उपयुक्त नयी आलोचना का आधार तैयार किया। अज्ञेय का आलोचना कर्म 1940 ई. से लेकर 1990 ई. तक माना जा सकता है। इस प्रकार उनके आलोचक व्यक्तित्त्व की अवधि कुल 50 वर्षों की है।

इस आधार पर अज्ञेय के आलोचना कर्म के विकास क्रम का निर्धारण किया जा सकता है। इसे दो तरह से स्पष्ट किया जा सकता है। एक, उनके आलोचना एवं चिन्तन के द्वारा और दूसरा उनके सम्पादित ग्रंथों की भूमिका के द्वारा। आलोचना एवं चिंतन का काल 1945 (त्रिशंकु) से लेकर 1983 (कवि दृष्टि) तक माना जा सकता है। जबकि सम्पादित ग्रंथों की भूमिका 1943 के 'तारसप्तक' से लेकर 1989 के 'भविष्य और साहित्य' तक। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है –

आलोचना	सम्पादित ग्रंथ
1945–त्रिशंकु	1943–तारसप्तक
1960–आत्मनेपद	1943–आधुनिक हिन्दी साहित्य
1972–भवंती	1951–दूसरा तारसप्तक
1975–अंतरा	1959–तीसरा सप्तक
1977–अद्यतन	1959–पुष्करिणी
1977–जोग लिखी	1978–चौथा सप्तक
1978–संवत्सर	1984–सर्जना और सम्प्रेषण
1979–शाश्वती	1985–साहित्य का परिवेश
1981–युग संधियों पर	1986–साहित्य और समाज परिवर्तन
1983–आत्मपरक	1986–सामाजिक यथार्थ और काव्यभाषा
1983–कवि दृष्टि	1987–समकालीन कविता में छंद
	1983–स्मृति के परिदृश्य
	1989–भविष्य और साहित्य

हिन्दी कविता के इतिहास में अज्ञेय द्वारा सम्पादित तारसप्तक(1943), दूसरा सप्तक (1951) तथा तीसरा सप्तक (1952) का विशेष महत्त्व है। इन सप्तकों में अज्ञेय द्वारा लिखी हुई भूमिकाओं में हिन्दी आलोचना के समक्ष विचार के कई नये प्रश्न खड़े किये गये। 'तारसप्तक' की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं "कविता ही कवि का परम वक्तव्य है। अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतया इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए।"[1]

तारसप्तक (1943) की भूमिका में अज्ञेय ने कविता और प्रयोग के सम्बन्ध पर विचार किया है। कविता और प्रयोग के संदर्भ में वे लिखते हैं – "संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं – जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है; केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।"[2] इसी सप्तक की भूमिका में आगे वे लिखते हैं – "तारसप्तक में सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक–दूसरे के परिचित हैं – बिना इस ढंग के सहयोग कैसे होता? किंतु इससे यह परिणाम न निकल जाय कि ये कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि हैं, या कि साहित्य–जगत के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि किसी 'स्कूल' के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं – राही नहीं, राहों के अन्वेषी हैं। उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग–अलग है।"[3]

अज्ञेय का यह कथन कविता को प्रयोग का विषय मानने के संदर्भ में है। यहाँ गौरतलब बात यह है कि कविता प्रयोग का विषय अवश्य है लेकिन प्रयोग कविता का लक्ष्य नहीं। इस बात को गौण मानते हुए आलोचक नंददुलारे वाजपेयी ने 'प्रयोगवादी रचनाएँ' नाम से एक लेख लिखा जो बहुत चर्चित रहा। नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं – "प्रयोग किस उद्देश्य से किये जा रहे हैं, इस सम्बन्ध में आसान उत्तर यही है कि लक्ष्य तो प्रयोग ही है। उसके प्रयोजन की खोज व्यर्थ है।"[4] नन्ददुलारे वाजपेयी के इन आक्षेपों का उत्तर अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' (1951) में दिया। 'दूसरा सप्तक' में अज्ञेय लिखते हैं – "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने–आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।"[5] अज्ञेय 'प्रयोग' का अर्थ

किस संदर्भ में प्रयुक्त कर रहे थे इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं – "प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरा वह प्रेषक की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।"[6]

उल्लेखनीय है कि अज्ञेय ने तारसप्तक की भूमिका में उसमें संगृहीत कवियों को 'अन्वेषी' कहा था। यदि अन्वेषण का कोशगत अर्थ खोजा जाय तो उसका अर्थ है – "लगातार परिश्रमपूर्वक छानबीन करते हुए ऐतिहासिक बातों तथा अन्य तथ्यों का पता लगाना।"[7] इससे स्पष्ट है कि कविता के प्रसंग में ऐतिहासिक बातों का सम्बन्ध परम्परा से है। अतः प्रयोग का यहाँ संदर्भ परम्परा से नए सम्बन्धों की पहचान से है। इस बात को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में लिखते हैं–"जो लोग प्रयोग की निंदा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा कम से कम कवि के लिए कोई ऐसी पोटली बांधकर अलग रखी हुई चीज नहीं है, जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक–बजाकर, तोड़–मरोड़ कर देखकर आत्मसात् नहीं कर लेता, जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाए।"[8] इस कथन के पीछे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि आजादी के बाद भारत के नये निर्माण के लिए पुराने और नये के नवीन सम्बन्धों पर विचार करना आवश्यक था। दूसरी यह कि अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार–आलोचक टी.एस. इलियट ने एक लेख लिखा था 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' जिसका प्रभाव पूरी दुनिया के साहित्य चिंतन पर पड़ा था। अज्ञेय ने इस लेख का भावानुवाद भी किया था। जिसका शीर्षक 'रूढ़ि और मौलिकता' था। इसे सर्वप्रथम 'त्रिशंकु' में प्रकाशित किया गया। बाद में यह 'सर्जना और संदर्भ' पुस्तक में संकलित हुआ। अज्ञेय ने 'रूढ़ि और मौलिकता' में इलियट के लेख का विश्लेषण किया।

परम्परा और प्रयोग के प्रति अज्ञेय की धारणा का कारण कविता के प्रति उनका दृष्टिकोण भी है। वे कविता को 'अभिव्यक्ति' से अधिक 'सम्प्रेषण' मानते थे। 'तारसप्तक' में वे लिखते हैं – "हमारे समय की कविता को समझने के लिए – मैं तो कहूंगा कि किसी भी समय

की कविता को समझने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम जानें कि काव्य 'अभिव्यक्ति' से अधिक 'सम्प्रेषण' है और सम्प्रेषण की स्थितियों के संदर्भ में ही यह पड़ताल करें कि कविता क्या है?"[9] इस कथन से स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में ध्यान भाषा पर जाएगा क्योंकि भाषा सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। भाषा पर ही सम्प्रेषण का भाव निर्भर है। गौरतलब है कि अज्ञेय के आलोचना कर्म में भाषा की संवेदनशीलता का सवाल प्रमुख है। 'तारसप्तक' के द्वितीय संस्करण–1963 की भूमिका में वे लिखते हैं – "आज भी मेरे सामने जो समस्या है, और जिसका हल पा लेना मैं अपने कवि–जीवन की चरम उपलब्धि मानूंगा, वह अर्थवान् शब्द की समस्या है। काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।"[10]

भाषा पर अज्ञेय का विचार उनके आलोचना कर्म में लगातार बना रहता है। 'तारसप्तक' की भूमिका में वे लिखते हैं कि कवि का मुख्य काम अपने 'व्यक्ति सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाना होता है। भाषा इसमें सहायता प्रदान करती है। पर कवि पाता है कि "भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है – शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।"[11] स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में प्रयोग भाषा से सम्बन्धित होगा। क्योंकि व्यक्ति सत्य और व्यापक सत्य से इसका गहरा सम्बन्ध है। अज्ञेय आगे लिखते हैं – "राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि–कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है।"[12]

अज्ञेय के आलोचना कर्म में भाषा के प्रश्न के अलावा सम्प्रेषण–काव्यवस्तु का सवाल महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में अज्ञेय 'तीसरे सप्तक' की भूमिका में लिखते हैं "काव्य का विषय और काव्य की वस्तु अलग–अलग चीजें हैं, पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह बिल्कुल संभव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे, जैसे यह भी संभव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो।"[13]

अज्ञेय के आलोचनात्मक कर्म के विकास क्रम के अंतर्गत सर्वप्रथम उनके द्वारा सम्पादित तारसप्तक की भूमिका का अध्ययन किया गया जिसमें तारसप्तक, दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक की भूमिका को प्रमुखता से शामिल किया गया। परिणामस्वरूप अज्ञेय की प्रयोग,

परम्परा, भाषा, अभिव्यक्ति, सम्प्रेषण, सम्प्रेषण वस्तु, काव्य विषय और काव्य–वस्तु सम्बन्धी आलोचनात्मक दृष्टि को सरलता से समझा जा सकता है।

तार सप्तकों की भूमिकाओं के समानान्तर ही आलोचना एवं चिंतन से सम्बन्धित अज्ञेय के लेखों का भी प्रकाशन जारी था। बाद में यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ जिनमें त्रिशंकु, आत्मनेपद, भवंती, अंतरा, अद्यतन, जोग लिखी, संवत्सर, स्रोत और सेतु, शाश्वती, युग संधियों पर, आत्मपरक और काव्यदृष्टि प्रमुख हैं।

'त्रिशंकु' का प्रकाशन 1945 ई. में हुआ। त्रिशंकु काल के निबंधों में इलियट की आलोचना का प्रभाव है। इसके अन्तर्गत अज्ञेय ने काव्य के 'निर्वैयक्तिक' सिद्धांत की स्थापना की। यह मुख्यतया छायावादी काव्य सिद्धांत का विरोधी है। अज्ञेय, कविता को निरंतर निर्वैयक्तिक रचना एवं अहं के विलयन का साधन मानते रहे। 1960 ई. में 'आत्मनेपद' का प्रकाशन हुआ। इसमें अज्ञेय वैयक्तिक निबंधों के माध्यम से आज के कवि से अपने को अलगाते हुए लिखते हैं – "आज का कवि तो कविता को वरंच व्यक्ति की, व्यक्ति के अहं की, प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करने वाली रचना मानता है। मैं कहूँ कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ। अधिक से अधिक उस श्रेणी में हूँ जो कविता को अहं के विलयन का साधन मानते हैं।"[14] 'आत्मनेपद' में अज्ञेय काव्य समीक्षा पर विचार करते हैं। उनका मानना है कि काव्य की परीक्षा करने का मतलब है उसकी वस्तु की परीक्षा। वस्तु की परीक्षा करने की स्थिति में हम सृजनात्मक प्रक्रिया की परीक्षा करते हैं। वे लिखते हैं – "वस्तु की परीक्षा करते समय कृतिकार के मानस की परीक्षा भी आवश्यक होती है। काव्य विवेचन में विषय का बहुत कम महत्त्व है; वस्तु का ही है और वस्तु का महत्त्व भी इसलिए है कि वह वस्तु मानवीय है और उसके सहारे हम कृतिकार के मन में पहुंचते हैं और उसकी परख करते हैं कि कैसे वह वस्तु तक पहुंचा, कैसे उसे उसकी संवेदना ने ग्रहण किया और कैसे बहुजन–संवेद्य या प्रेषणीय बनाया।"[15]

अज्ञेय ने नयी कविता की सौन्दर्य–चेतना का 'आत्मनेपद' में विश्लेषण किया है। इसमें मुख्य रूप से 'प्रतीक' के महत्त्व का निरूपण किया गया है। अज्ञेय लिखते हैं – "आधुनिक कविता पर मनोविज्ञान की गहरी छाप है। क्यों? क्योंकि व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों में इतना कम सामंजस्य इतना तीखा विरोध कभी नहीं हुआ, और उस विरोध के दबाव का कवि

के मन पर गहरी छाप है। इतना गहरी, कि वह सीधे–सीधे व्यक्त भी नहीं कर पाता है, केवल ध्वनित करता है, केवल एक संकेत देता है जिससे हम आगे बढ़कर उसे देख सकें। एक सौन्दर्य वह होता हैं जो बाहर फुलवाड़ी में बैठता है। और एक वह होता है जो घर में रहता है और अतिथियों द्वारा जिसे देखा जा सकता है, एक और होता है जिसे हम बंद कमरे की खिड़की से आते हुए आलोक को देखकर अपनी संवेदना के सहारे ही मूर्त कर लेते हैं। मानसिक तनाव से धुनष की प्रत्यंचा–सी तनी हुई, अन्तर्जीवित की तीखी चेतना के स्वर–सी संयत, लेकिन जीवन की विविधता के बोध से विश्रृंखल होती हुई भी–आज की कविता का सौन्दर्य – इस तीसरी कोटि का ही सौन्दर्य है।"[16]

हिन्दी कविता के संकलन 'पुष्कारिणी' (1959) की भूमिका के रूप में आधुनिक कविता की विस्तृत आलोचना का विशेष महत्त्व है। बाद में यह भूमिका 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में "खड़ी बोली की कविता : 'पृष्ठभूमि" नामक निबंध के रूप में प्रकाशित हुई। यह निबंध कुछ ऐसी स्थापनाओं के लिए महत्त्वपूर्ण है जो अज्ञेय की अपनी थीं। उदाहरण के लिए खड़ी बोली के रचनात्मक रूप के निर्माण और प्रभाव का श्रेय मैथिलीशरण को देना। वे लिखते हैं – "उन्होंने जो चलाया वह तो चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर उन्होंने निषेध नहीं किया केवल स्वयं नहीं बरता, उसको बरतना केवल इतने ही से कठिन हो गया कि उन्होंने उसे नहीं अपनाया।"[17]

1972 ई. में 'भवंती' का प्रकाशन हुआ। इसमें अज्ञेय लिखते हैं – "चिंतन प्रसाद ने अधिक किया। काव्य 'निराला' का श्रेष्ठ है। शब्द का ज्ञान पंत का सबसे सूक्ष्म है। 'प्रसाद' पढ़ाये जाएंगे। 'पंत' से सीखा जाएगा। 'निराला' पढ़ें जाएंगे।"[18] इसी में वे आगे लिखते हैं "ऐसा होता है कि संस्कृतियाँ अपनी सर्जनात्मकता खो बैठती हैं – वे अपनी आत्मा खो बैठती हैं और तब उनमें यह समझने की भी अंतर्दृष्टि नहीं रहती कि उनके जीवन का हेतु क्या रहा, क्या है। .... भारतीय संस्कृति आज वैसे ही किसी बिंदु पर पहुंच गयी है? उसने अपनी सृजनशीलता खो दी है; उसके अस्तित्त्व का हेतु क्या रहा, पर पहचानने की अंतर्दृष्टि जैसे उसके पास नहीं है। अपने जीने का कारण खोजने के लिए वह पराया मुंह जोह रही है।"[19] 1975 ई. में 'अंतरा' का प्रकाशन हुआ। इसमें अज्ञेय लिखते हैं – "लेखक हैं? आज़ाद है? मारो स्साले को। पिटाई से न सधे तो बदनाम करो; संखिया धतूरा कुछ खिला दो, पागलखाने में डाल दो। ये सब

बेकार हो जाएं तो शाल–दुशाल, पद पुरस्कारों से लादकर कुचल दो–वह तो ब्रह्मास्त्र है।"[20] वे आगे लिखते हैं – "मिला बहुत कुछ, सब बेपेंदी का। शिक्षा मिली, उसकी नींव भाषा नहीं मिली। आजादी मिली, उसकी नींव, आत्मगौरव नहीं मिला। राष्ट्रीयता मिली, उसकी नींव अपनी राष्ट्रीय पहचान नहीं मिली। यानी आज़ादी से जन्मे–पले मुझको–आजादी के आदिपुरुष को–चेहरा मिला, व्यक्तित्त्व नहीं मिला। और बिना व्यक्तित्त्व के चेहरा क्या होता है?"[21]

कविता में सम्प्रेषण खोजने के बाद अज्ञेय का कविता के दो रूपों पर ध्यान गया है। एक को उन्होंने वाचिक कविता कहा है तथा दूसरे को मुद्रित कविता। स्पष्ट है कि वाचिक कविता पुराने जमाने अर्थात् प्रेस के आविष्कार से पहले की कविता है जबकि मुद्रित कविता उसके आविष्कार के बाद की। गौरतलब है कि अज्ञेय ने दोनों ही स्थितियों में सम्प्रेषण की प्रक्रिया पर विचार किया। फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय का यह मानना था कि कविता वस्तुतः सम्प्रेषण है।

प्रेस के आविष्कार के पहले कविता का संप्रेषण गोष्ठियों, चौपालों तथा कीर्तन मंडलियों के सामने होता था। परिणामस्वरूप कवि को यह अवसर मिलता था कि वह अपने स्रोताओं से प्रत्यक्षतः संवाद कर सके। सन् 1985 में अज्ञेय की एक पुस्तक 'सर्जना और संदर्भ' प्रकाशित हुई जिसमें वे लिखते हैं – "सम्प्रेषण एक प्रक्रिया है जो एक सजीव, प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत मूर्त इकाई की ओर प्रवाहमान होती है जिस इकाई की सजग चेतना सम्प्रेषण के दौरान–निर्व्याघात बनी रहती है।"[22]

प्रेस के आविष्कार के बाद मुद्रित कविता का सम्प्रेषण वाचिक कविता की तरह नहीं होता। यहाँ कवि अपने पाठक का अनुमान करता है। परिणामस्वरूप कवि और सामाजिक (पाठक) के बीच नए प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके कारण कवि को अपने लिए एक भिन्न भाषा की खोज करनी पड़ती है। मुद्रित कविता की शुरूआत में वाचिक परम्परा का साहित्य अधिक छपा था। धीरे–धीरे स्थिति बदलने लगी। परिणामस्वरूप कवि को अपने लिए नई जमीन खोजनी पड़ी। इस संदर्भ में अज्ञेय लिखते हैं – "कविता की पुस्तकें बिकती तो थीं, पर ग्राहकों की रूचि पुराने और वाचिक परम्परा के सुपरिचित ग्रंथों में ही ज्यादा थी। समकालीन काव्य की ओर नहीं। ... इसके बावजूद कि इस लिखित काव्य की भाषा उनके लिए अधिक परिचित, साधारण बोलचाल के निकटतर हो सकती थी।"[23]

अपने आलोचना कर्म के माध्यम से अज्ञेय कविता के विषय में कई नये प्रश्न सामने लाते हैं। कविता को अभिव्यक्ति मात्र के धरातल से उठाकर सम्प्रेषण तक ले जाना, काव्यभाषा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करना, वाचिक और मुद्रित कविताओं में अंतर स्पष्ट करना आदि हिन्दी आलोचना में अज्ञेय द्वारा किये गये महत्त्वपूर्ण काम हैं।

अज्ञेय का आलोचना कर्म समग्रता में है। इसमें किसी विचार या दृष्टि को आत्यंतिक रूप से सर्वप्रभावी नहीं माना गया। बल्कि समग्रता में विषय को पकड़ने का प्रयास किया गया। अज्ञेय की आलोचना आज़ाद भारत में हिन्दी भाषा और साहित्य के संदर्भ में हिन्दी कविता की विविधता को सामने लाती है।

'साहित्य का उद्देश्य' नामक निबंध में प्रेमचंद ने उपन्यास को पूरे समाज का चित्र कहा था। अज्ञेय प्रेमचंद के इस विचार से पूर्णतः सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि उपन्यास अनिवार्य रूप से पूरे समाज का चरित्र नहीं होता है। 'आत्मनेपद' में वे लिखते हैं – "समाज के जिस अंग में से 'नदी के द्वीप' के पात्र आए हैं उसका वे गलत प्रतिनिधित्व नहीं करते। मेरे लिए उनकी इतनी सामाजिकता पर्याप्त है।"[24] इस कथन से स्पष्ट हो रहा है कि अज्ञेय उपन्यास में प्रस्तुत की जाने वाली सामाजिकता की नई अवधारणा प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि अज्ञेय की आलोचना उनके उपन्यास 'नदी के द्वीप' की रचना प्रक्रिया से भी सम्बन्धित है।

कथा साहित्य पर विचार करते हुए अज्ञेय ने व्यक्ति–चरित्र और मानव-चरित्र का समाज प्रधान उपन्यासों में अंतर बताया। वे लिखते हैं "मानव चरित्र और व्यक्ति चरित्र में यह अंतर है कि मानव चरित्र में मानव–मात्र की चारित्रिक विशेषता पर बल दिया जाता है जबकि व्यक्ति-चरित्र में केवल उस एक अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है। जिसे हम दूसरे मानवों से पृथक् करते चुनते हैं। अर्थात् पहले में हमें मानवेतर जीव से मानव प्राणी को पृथक् करके उसकी मानवता को परिस्थिति के परिपार्श्व में देखते हैं; दूसरे में हम एक व्यक्ति मानव को इतर मानव–व्यक्तियों से पृथक् करके उसके व्यक्तित्त्व को मानव समाज के परिपार्श्व में देखते हैं।"[25] अज्ञेय के इस कथन से स्पष्ट होता है कि मानव चरित्र में मुख्य बल मानव की एक मानव के रूप में पहचान कराने पर होता है जबकि व्यक्ति चरित्र में उस 'खास मानव' जो व्यक्ति है, उसके चरित्र पर।

चरित्रों पर विचार करने के क्रम में ही अज्ञेय ने उपन्यास के विकास को समाज से व्यक्ति तक की यात्रा कहा है। उसके बाद उन्होंने उपन्यास को व्यक्तित्त्व और अस्तित्त्व की खोज कहा है। 'सर्जना और संदर्भ' में वे लिखते हैं "मानव व्यक्ति का व्यष्टि–रूप में क्या स्थान है – वह सामाजिक इकाई के रूप में बचा भी है और बचा रह भी सकता है या नहीं? यह प्रश्न व्यक्ति के भीतर संघर्ष के और नए आयाम हमारे सामने लाता है। संघर्ष की चरम परिणतियों के चित्रण में स्वाभाविक है कि विघटन के चित्र में भी आयें, न केवल खंडित व्यक्तित्त्वों के बल्कि ऐसी इकाइयों के भी जिनका अपने इकाई होने में विश्वास को भी डगमगा गया है। व्यक्तित्त्व की, अस्तित्त्व की, अपनेपन की, 'आइडेंटिटि' की खोज की पुकार इसी का मुख्य रूप है।"[26] अज्ञेय की यह चिंतन प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में इस विचार को शेखर : एक जीवनी' की रचना प्रक्रिया से जोड़ कर देखा जा सकता है।

गौरतलब है कि काव्यालोचन के प्रसंग में अज्ञेय ने काव्य–भाषा पर ध्यान दिया था। इसी प्रकार कथालोचना के प्रसंग में भी उन्होंने भाषा को प्रमुखता दी अर्थात् केन्द्र में रखा। इसी क्रम में उनके दो महत्त्वपूर्ण लेख–पहला, 'यथार्थ सम्प्रेषण : कथा–भाषा की समस्याएँ' और दूसरा 'कथा–भाषा : समस्या के कुछ पहलू'। यथार्थ के विषय में अज्ञेय का मानना था कि यह कई स्तर पर हो सकता है। लेकिन जिस भी स्तर को लेखक अभिव्यक्त करना चाहता है उसके अनुसार उसकी भाषा तय हो जाती है।

सन् 1989 में प्रकाशित 'स्मृतिछंदा' में अज्ञेय लिखते हैं – "आप जो भी चुनते हैं वह अपनी समस्याएं साथ लाता है। समस्या यहाँ आती है कि हम अपने समाज, जिसको हम भारतीय समाज कहते हैं, उसके अनेक प्रदेशों के जीवन को भी अपनाना और प्रस्तुत करना चाहते हैं और अनेक स्तरों को भी अपनाना एवं प्रस्तुत करना चाहते हैं। समस्या यहीं से पैदा होती है। ... एक समस्या थी जिसका सामना प्रेमचंद ने किया, एक रूप वह था जिसका सामना रेणु ने किया।"[27]

स्पष्ट है कि अज्ञेय के आलोचना कर्म का विकास काव्यालोचना एवं कथा आलोचना के साथ होता है। इसी से उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप बनता है।

2.2 अज्ञेय की सैद्धांतिक आलोचना

अज्ञेय अपने आलोचना कर्म के विषय में 'भवंती' में लिखते हैं – "मैने आलोचक होना कभी नहीं चाहा, चाहा तो लेखक होना ही है। मैं ये मानता आया हूँ जब जितनी आलोचना मैं करता लिखता आया हूँ, वह इसीलिए कि कवि के कृतिकार के नाते मेरा कर्म अधिक स्पष्ट हो।"[28] अज्ञेय के इस कथन से स्पष्ट होता है कि रचनाकार के हिसाब से वे सदैव इस बात पर चिंतन करते रहे कि उनका रचना कर्म पाठकों को ज्यादा से ज्यादा स्पष्ट हो सके।

अज्ञेय अपने चिंतन के माध्यम से सिद्धांत को बनाते हैं। आलोचना कैसी हो? इस विषय पर विचार करते हुए वे लिखते हैं "हमारी समझ में रचना का गुण–दोष विवेचन ही आलोचना का अंत नहीं है। जो आलोचना इस गुण–दोष विवेचन से आगे नहीं बढ़ती, उसको लांघ कर रचयिता के मन को नहीं परखती, वो आलोचना निःसार है, बंध्या है।"[29] आलोचना को स्पष्ट करने के साथ ही आलोचक के दायित्व को भी स्पष्ट किया है। इसी पुस्तक में वे आगे लिखते हैं – "हमें साहित्य को विवश करने की व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी चाहिए, हमें चाहिए कि हम उसी वस्तु को ग्रहण करें जिसमें शक्ति है; प्रेरणा है। हमें लेखकों को नहीं, समालोचकों को शिक्षित बनाने का प्रयास करना चाहिए। लेखक बंधन से परे है और रहेगा। समालोचक को ही शिक्षित किया जा सकता है कि वह संसार के प्रति अपना दायित्व समझे और जनता के सामने वह लाये जिसकी उसे आवश्यकता है; वह रोके जो व्यर्थ या हानिकारक है।"[30]

अज्ञेय ने अपने आलोचना–कर्म के माध्यम से आलोचना का अर्थ, मूल प्रकृति, आलोचक की तटस्थता, स्वतंत्रता और दायित्व आदि पर गंभीरता से विचार किया। अज्ञेय ने आलोचना से जुड़े गंभीर और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया इसके साथ ही अपने पूर्ववर्ती और समकालीन रचनाकारों और उनके साहित्य पर लिखा भी। अज्ञेय ने आलोचना को एक नई दिशा में मोड़ा। यह बात उनके सैद्धांतिक आलोचना से स्पष्ट हो सकेगी।

अज्ञेय के सैद्धांतिक आलोचना का प्रारंभिक बिन्दु 'त्रिशंकु' है। इसके सैद्धांतिक चिंतन ने हिन्दी के मौलिक काव्यशास्त्र को मजबूती प्रदान की साथ ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की चिंतन परम्परा और सैद्धांतिकी को आगे बढ़ाया। यह कहना गलत न होगा कि हिन्दी आलोचना के सैद्धांतिकी को मजबूती देने में छायावादी युग में जो

कार्य जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' लिखकर किया था वही काम अज्ञेय ने प्रगति–प्रयोग, नई कविता या उत्तर–छायावाद में 'त्रिशंकु' के निबंधों से किया। 'त्रिशंकु' में संकलित निबंध, चिंतन की दृष्टि से हिन्दी आलोचना की मौलिक उपलब्धि माने जा सकते हैं।

'त्रिशंकु की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं – "आलोचना में 'नया' कम होता है; जितनी कुछ मौलिकता उसमें हो सकती है, इस पुस्तक के निबंधों में उतनी भी नहीं है। कई वर्षों के अध्ययन का जो पहले साध्य होकर भी सुलभ था, और अब साधन होकर भी क्रमशः दुर्लभ हो जाता है। सहारा लेकर साहित्य के बारे में जो कुछ धारणाएँ बना पाया हूँ और उनके सहारे आधुनिक हिन्दी साहित्य को जैसा समझा हूँ, वही बताने का प्रयत्न इन लेखों में किया गया है।"[31]

'त्रिशंकु' में अज्ञेय के सैद्धांतिक आलोचना एवं 'व्यावहारिक आलोचना का लक्षण दिखायी देने लगता है। सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत जो उनके लिखित लेख हैं उनमें – संस्कृति और परिस्थिति, कला का स्वभाव और उद्देश्य, रूढ़ि और मौलिकता, पुराण और संस्कृति, परिस्थिति और साहित्यकार आदि महत्त्वपूर्ण हैं। अज्ञेय ने संक्रांतिकाल की कुछ साहित्यिक समस्याओं की ओर भी संकेत किया है जिसमें साहित्य किसके लिए? राजनीति और साहित्य; साहित्य और प्रगति, क्या लेखक बिकाऊ है? आदि विषय महत्त्वपूर्ण हैं। त्रिशंकु में सैद्धांतिकी के अंतर्गत अंतिम लेख 'चेतना का संस्कार' है।

'त्रिशंकु' में ही 'परिशिष्ट' के अंतर्गत अज्ञेय ने व्यावहारिक आलोचना लिखी जिसमें 'केशव की कविताई' चार नाटक, एक भूमिका, दो फूल, आधुनिक कविः महादेवी वर्मा और वागर्थ प्रतिपत्तये आदि लेख महत्त्वपूर्ण हैं।

'त्रिशंकु' के पहले लेख 'संस्कृति और परिस्थिति में अज्ञेय लिखते हैं – "साहित्य के प्रश्न को साहित्य या साहित्यालोचन के संकुचित घेरे से निकालकर मैं उसे एक सांस्कृतिक विभूति के रूप में दिखाना चाहता हूँ। यह रूप उसे कैसे प्राप्त है; यह जानने के लिए आपको समाज के संगठन की ओर ध्यान देना होगा।"[32] इस कथन से स्पष्ट होता है कि अज्ञेय साहित्य को सीमित दायरे में न रखकर उसका व्यापक महत्त्व स्थापित करते हैं। वे साहित्य को सांस्कृतिक

विरासत के रूप में देखते हैं। तत्कालीन आर्थिक संकट से सम्बन्धित प्रश्न के विषय में अज्ञेय लिखते हैं – "... लेकिन प्रश्न आर्थिक से बढ़कर सांस्कृतिक है। मशीन से केवल रोजगार नहीं मारा जाता, मशीन से मानव का एक अंग मर जाता है, उसकी संस्कृति नष्ट हो जाती है और उसका स्थान लेने वाली कोई चीज नहीं मिलती है।"[33] अज्ञेय संस्कृति का मूल आधार भाषा को मानते हैं तथा उसका चरमोत्कर्ष साहित्य में प्रस्तुत होता है, ऐसा मानते हैं। वे साहित्य के पतन को संस्कृति और जीवन के पतन से जोड़कर देखते हैं। वे लिखते हैं – "संस्कृति का मूल आधार भाषा और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है। अतः साहित्य का पतन संस्कृति का और अंततः जीवन का पतन है।"[34]

दूसरा लेख 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' है। यह निबंध प्रश्नवाचक एवं संवाद शैली से प्रारंभ होता है। कला क्या है? इस प्रश्न पर अज्ञेय ने सूत्र देकर व्याख्या की। वे लिखते हैं – "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न – अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह है।"[35] इसी लेख में अज्ञेय व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर लिखते हैं – "समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है। समाज जितना ही कम विकसित हो, उतना ही वह दायित्व अधिक स्पष्ट और अनिवार्य होता है। अविकसित समाज में विकल्प की गुंजाइश कम रहती है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित धर्म (Function) होता है; और जितना ही समाज विकसित होता है, उतना ही वह धर्म रूढ़ और अनिवार्य।"[36]

(क) परम्परा और वैयक्तिकता

'त्रिशंकु' में अज्ञेय ने 'रूढ़ि और मौलिकता' लेख में परम्परा के ज्ञान तथा उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला है। लेख में वे 'परम्परा' की जगह 'रूढ़ि' शब्द का प्रयोग करते हैं। लेख के प्रारंभ में ही वे स्पष्ट करते हैं कि कब किसी शब्द का अर्थ प्रासंगिक या अर्थवान होता है और कब निरर्थक। "भारतवासी रूढ़िवादी हैं" यह वाक्य पहले भारतीयों का गुण समझा जाता था, लेकिन 'प्रगति' के नाम पर अब इसे खलनायक के रूप में समझा जाने लगा। आलोचना के क्षेत्र में अज्ञेय इसे फैशन मानते हैं। वे लिखते हैं – "लेखक अथवा कवि की रचनाओं के 'मौलिक', 'व्यक्तिगत' विशेष गुणों पर जोर देने की परिपाटी सी चल पड़ी है।"[37] अज्ञेय 'मौलिकता' और 'भिन्नता' शब्द को अलग–अलग अर्थ देने वाला शब्द मानते हैं। यह सही भी है। लेकिन

आलोचना में मौलिकता और भिन्नता को पर्याय माना जाने लगा है। इस संदर्भ में अज्ञेय लिखते हैं – "आजकल का साहित्यकार अपनी 'भिन्नता' के लिए ही प्रशंसा पाता है; 'मौलिकता' 'भिन्नता' का ही पर्याय बन गया है। कवि को हम उसके पूर्ववर्तियों से विशेषकर निकट पूर्ववर्तियों से, उच्छिन्न करके देख सकें तभी हमें संतोष होता है।"[38]

अज्ञेय प्रश्न करते हैं कि क्या परम्परा को निरंतर कायम करना ही अंधानुकरण है? रूढ़ि क्या है? परम्परा का साहित्य में क्या स्थान है? और साहित्यकार के लिए क्या मोल। इसके उत्तर में वे स्वयं लिखते हैं – "हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि रूढ़ि अथवा परम्परा कोई बनी–बनाई चीज़ नहीं है, जिसे साहित्यकार ज्यों–का–त्यों पा या छोड़ सकता है। ... परम्परा लेखक पर स्वयं हावी नहीं होती बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है। लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है।"[39] रूढ़ि के प्रति जागरूकता का प्रमुख उपकरण अज्ञेय ऐतिहासिक चेतना को मानते हैं। इसी ऐतिहासिक चेतना के द्वारा कलात्मक विवेचन किया जा सकता है। अज्ञेय ने साहित्यकार के लिए कुछ आवश्यक जागरूकता को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं – "साहित्यकार को कला की, साहित्य सृष्टि की मुख्य प्रवृत्ति से, साहित्यिक परम्परा की निरंतर विकासशील प्रवहमानता से परिचित होना ही होगा; अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्तमान के विकास की भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी ही होगी।"[40] आगे वे स्पष्ट करते हैं कि इसके लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं, बल्कि परिश्रम और अनुभूति करने की आवश्यकता है।

(ख) व्यक्तिसत्ता और समाज सत्ता का अन्तर्द्वन्द्व

व्यक्ति और समाज का अन्तर्द्वन्द्व अज्ञेय के रचनाकर्म का मूल है। यह उनके आलोचना कर्म में भी स्पष्ट रूप से उभरकर आता है। 'केन्द्र और परिधि' में अज्ञेय लिखते हैं – "स्वाधीनता कोई स्थिर अथवा स्थावर वस्तु नहीं है, ऐसी संपत्ति या ऐसा रत्न नहीं है, जिसे कोई एक बार प्राप्त करके कहीं संजोकर रख दे सकता है। बल्कि इसके विपरीत स्वाधीनता एक ऐसी चीज़ है जो निरंतर आविष्कार, शोध और संघर्ष मांगती है, यहाँ तक कि उस शोध और संघर्ष की ही, स्वाधीनता की अंतहीन ललक को ही स्वाधीनता का सारतत्त्व कह सकते हैं।"[41]

अज्ञेय यह मानते हैं कि व्यक्ति की सत्ता समाज के अंदर ही होती है परन्तु उसकी एक स्वतंत्र पहचान होती है। गौरतलब है कि अज्ञेय से पहले की रचनाओं में पात्र वर्गीय चरित्र होते

थे। समाज का एक व्यापक चेहरा सामने लाते थे। होरी, धनिया, गोबर, अमर पाल सिंह आदि ऐसे ही पात्र थे। अज्ञेय ने शेखर, भुवन, रेखा, योके, सेल्मा आदि पात्रों के माध्यम से व्यक्ति स्वतंत्र पात्रों को रचा। इसी में वे आगे लिखते हैं – "मानव के रचे हुए और मानव–निर्मित होकर भी मानव–मात्र के बड़े मूल्यों में एक मूल्य स्वतंत्रता है, बल्कि स्वतंत्रता न केवल अनेक मूल्यों में से एक है, वह दूसरे सभी मूल्यों की आधारभित्ति है। स्वतंत्रता ही मानव का लक्ष्य भी है और उसकी मानवता का प्रमाण भी।"[42] लेकिन अज्ञेय के इस कथन का मतलब यह नहीं है कि स्वतंत्रता की चेतना व्यक्ति को इच्छाधारी बना दे। हमारी स्वतंत्रता, हमारी अपनी सत्ता से जुड़ा व्यवहार जब तक सीमित है तब तक उचित है, अन्यथा व्यापक होने पर जिम्मेदारियाँ भी व्यापक हो जाती हैं। अज्ञेय लिखते हैं – "'मैं' के अधिकार का दावा तो एक जैविक प्रेरणा है; ममेतर का दावा ही मनुष्यता की पहचान है। यह पहचान, दूसरे की स्वतंत्रता के समान अधिकार की पहचान और उसका स्वीकार, आत्मचेतन व्यक्ति ही कर सकता है।"[43]

व्यक्ति सत्ता और समाज सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध पर अज्ञेय लिखते हैं कि "व्यक्ति और समाज परस्पर निर्भर हैं और यह परस्परता भी उन मूल्यों में एक है जिसका स्रष्टा और प्रतिष्ठाता मानव है, जो परस्परता विवेक पर आश्रित है।"[44] कहने का मतलब है कि व्यक्ति सत्ता और समाज सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर्द्वन्द्व में अज्ञेय समाज को तो महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में मानते हैं लेकिन व्यक्ति की स्वतंत्रता और अस्तित्त्व को उससे भी ऊपर मानते हैं। व्यक्ति के विकास में जो समाज बाधक बनता है, उसे अज्ञेय स्वीकार नहीं करते उसके खिलाफ विद्रोह का समर्थन करते हैं। व्यक्ति अपने समाज को बनाता है और समाज व्यक्ति को। व्यक्ति की मौलिकता जब समाज स्वीकार नहीं करता तब व्यक्ति विद्रोही प्रवृत्ति अपना लेता है।

(ग) निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

अमरीकी आलोचक टी.एस.इलियट का अज्ञेय पर प्रभाव रहा है। 'त्रिशंकु' में रूढ़ि और मौलिकता का भावानुवाद करते समय अज्ञेय, इलियट के एक कथन से बहुत प्रभावित थे – "कलाकार जितना ही संपूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगने वाले प्राणी और रचने वाली मनीषा का पृथकत्व स्पष्ट होगा।"[45] अज्ञेय रचनाकार के लिए यह आवश्यक मानते हैं। उनकी रचनाओं पर इसका प्रभाव है। ऐसी रचनाओं में 'शेखर : एक जीवनी महत्त्वपूर्ण है। अज्ञेय

'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका में लिखते हैं – "शिशु–मानस के चित्रण की सच्चाई के लिए मैंने 'शेखर' के आरंभ के खण्डों में घटना स्थल अपने ही जीवन से चुने हैं; फिर क्रमशः बढ़ते हुए शेखर का जीवन और अनुभूति क्षेत्र मेरे जीवन और अनुभूति क्षेत्र से अलग चला गया है, यहाँ तक कि मैंने स्वयं यह अनुभव किया है कि मैं एक स्वतंत्र व्यक्ति की प्रगति का दर्शक और इतिहासकार हूँ, उसके जीवन पर मेरा किसी तरह का वश नहीं रहा है।"[46]

निर्वैयक्तिकता और रचना–प्रक्रिया से जुड़े प्रश्नों के संदर्भ में अज्ञेय और राजी सेठ से एक संवाद हुआ था। राजी सेठ के सवाल का उत्तर अज्ञेय इस प्रकार देते हैं – "'अपने' का मतलब कोई समाजातीत तो है नहीं, मैं जो भी हूँ, मेरे समाज का जो बोध मुझमें है वह भी मेरे अपनेपन का अंग है। और अगर मैं मानता हूँ, जैसा कि मानता हूँ, कि काव्य या कि कोई भी कलाकृति जरूरी तौर पर सम्प्रेषण की एक प्रक्रिया है तो उसमें एक दूसरा पक्ष जरूरी तौर पर होता है, वह सामाजिक है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं या मानते हैं कि सिर्फ अपनी अभिव्यक्ति होती है। यह तो मुझे आत्मप्रवंचना मालूम होती है; क्योंकि अभिव्यक्ति भी किसी दूसरे पर होती है।"[47]

निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत के संदर्भ में अज्ञेय और इलियट की व्याख्याएं महत्त्वपूर्ण हैं। इलियट का मानना है कि रचना–प्रक्रिया की सफलता यह है कि उसका सामान्य में विलय हो जाय जबकि अज्ञेय का मानना है कि काव्य या कलाकृति जरूरी रूप में सम्प्रेषण है। यह सम्प्रेषण सामाजिक है। इससे स्पष्ट होता है कि रचना चाहे व्यक्ति के बारे में हो या उसके अंतर्मन में झांक रही हो उसमें समाज निहित होता है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। इलियट की तरह अज्ञेय भी मानते हैं कि भोगने वाले भोक्ता और रचने वाले कलाकार के बीच दूरी आवश्यक है। यह दूरी जितना अधिक होगी, रचना उतना ही महान होगी। 'त्रिशंकु' में अज्ञेय लिखते हैं – "कलाकार जितना बड़ा होगा, उतना ही व्यक्ति–जीवन और रचनाशील मन का यह अलगाव भी आत्यांतिक होगा। उतना ही रचना करने वाला कवि–मानस अनुभव करने वाले मानव से दूर और पृथक होगा।"[48]

(घ) क्षण के प्रति आग्रह

अज्ञेय के आलोचना कर्म में जिस प्रकार व्यक्ति समाज की इकाई माना गया है उसी प्रकार क्षण को काल की इकाई। क्षण वैसा ही जीवंत काल है जैसा व्यक्ति एक सृजनशील, स्पंदनशील इकाई है। अज्ञेय ने अपने रचनाकर्म में जीवंत जीवनपूर्ण क्षण को रचने की कोशिश की है। यह प्रयास उनके आलोचना कर्म में भी दिखायी पड़ता है। 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय लिखते हैं – "हम समय की माप दिन और रात से या घड़ी से करते हैं। क्षणों में ही जो युग बीत जाते हैं और युगों तक जो क्षण वैसे ही बने रहते हैं, उन्हें हम नहीं देखते हैं।"[49] इसी बात को वे अपने आलोचनाकर्म में भी दोहराते हैं। 'लिखिकागद कोरे' में वे लिखते हैं – "सघनतम अनुभूति का क्षण हो; जिसमें अतीत तथा भविष्य नाम की छायाएं सिमटकर तेजोमय दीप्त से घटमान में सोख ली जाये। ... दोनों प्रकार की छायाओं से असंपृक्त अतीत तथा भविष्य से मुक्त ... भले ही यह संभव नहीं हो ... लेकिन, उसके पास पहुंचने की चेष्टा कवि का इष्ट हो।"[50]

क्षण के प्रति आकर्षण अज्ञेय में सृजन के आरंभ से विद्यमान है। यह कैसे क्षण हैं। जिनका अज्ञेय संधान करना चाहते हैं। यह सर्जना के क्षण हैं। नवीन भावों एवं विचारों के उदय के क्षण हैं। ऐसे क्षण जिनमें भूत और भविष्य की चेतना विराम पा जाती है। केवल अनुभूति की सघनता शेष रह जाती है। द्रष्टा को केवल क्षण की अनुभूति हो जाती है। वह अनुभूति का वरण नहीं कर सकता। अज्ञेय के उपन्यास 'अपने–अपने अजनबी' की पूरी कथा–वस्तु ही अनुभूति के आस–पास रची प्रतीत होती है। उपन्यास की एक पात्र 'सेल्मा' कहती है "वरण की स्वतंत्रता कहीं नहीं है; हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं। ईश्वर भी शायद स्वेच्छाधारी नहीं है – उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है; वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जाएगा। ... वरण की स्वतंत्रता नहीं है, लेकिन रचना फिर भी संभव है, उसी में मुक्ति है।"[51]

अज्ञेय के रचनाकर्म में क्षण का जिक्र बार–बार होता है। परिणामस्वरूप यह संदेह होता है कि वे क्षणवादी थे। यूरोप में या पश्चिम में अस्तित्त्ववादी आलोचकों एवं दार्शनिकों ने क्षणवाद का दर्शन चलाया। अस्तित्त्ववाद का अज्ञेय की रचनाकर्म और आलोचना कर्म दोनों पर गहरा

प्रभाव पड़ा। अज्ञेय ने अस्तित्त्ववादी दर्शन का गहराई से अध्ययन भी किया था। उनके उपन्यास 'अपने–अपने अजनबी' में अस्तित्त्ववादी दर्शन मुखर हुआ है।

(च) आत्मान्वेषण और आत्मसाक्षात्कार

अज्ञेय आत्मान्वेषण और आत्मसाक्षात्कार के संदर्भ में 'अंतरा' में लिखते हैं–"क्या मेरे पास ऐसा कुछ संप्रेष्य है, जो संपूर्ण मानव जीवन के संवेदन को संवृद्धतर बना सके। जब कलाकार अपने से बड़े विचार, आदर्श, आइडिया के लिए जीता है, तो उसके लिए उसका जीवन एक यज्ञ हो जाता है। वह स्वयं उस पर विचार या आइडिया के लिए एक आहुति बन जाता है।"[52]

सृजन–प्रक्रिया के दौरान रचनाकार सदा आत्मान्वेषण कर रहा होता है। उसके समक्ष कई गंभीर प्रश्न खड़े होते हैं। वह क्यों रचना कर रहा है, उसको रचने की प्रेरणा कहाँ से मिल रही है, उसका सृजन मानव–मात्र के लिए कितना कल्याणकारी होगा या वह स्वांतः सुखाय ही रचना कर रहा है, आदि। इस संदर्भ में अज्ञेय 'शाश्वती' में लिखते हैं "ऐसी अलौकिक प्रतीतियों का प्रकटीकरण जब कलाकार को होता है तो वह व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह जाता, वह उस सत्ता के साक्षात्कार का माध्यम हो जाता है। वह जानता है कि उस आंच से अपने को बचाना नहीं है। चाहे कितना ही दुःसह हो, क्लेशकर हो, अनिर्वचनीय हो या समझ से परे हो – दो ही हैं जो उस आंच से बचते नहीं हैं – कवि और रहस्यवादी सन्त।"[53]

(छ) भाषा के बरक्स शब्द की सत्ता पर अतिशय आग्रह

अज्ञेय के आलोचना–कर्म में उनका भाषा–सम्बन्धी चिंतन महत्त्वपूर्ण है। वे 'सर्जना और संदर्भ' में लिखते हैं "हम जो भाषा बोलते हैं उसके द्वारा हम वह संसार चुन लेते हैं जिसमें हम रहते हैं या इसी बात को उलटकर यों कहें कि हम जो भाषा बोलते हैं उसके निमित्त से हम उस जीवन–व्यवस्था (ऋत) के द्वारा चुन लिये जाते हैं जिसके हम अंग हैं; चुन लिए जाते हैं, एक निद्रिष्ट स्थान और धर्म पा लेते हैं। उसे निबाहने को स्वतंत्र हो जाते हैं।"[54] अज्ञेय कविता क्या है? के सवाल का उत्तर देते हुए लिखते हैं "काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि–धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञानशब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है। ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते है और इसी में विलय होते हैं।"[55] अज्ञेय के इस

कथन से स्पष्ट होता है कि वे शब्द की सत्ता, शब्द का ज्ञान, अर्थछवियाँ, प्रयोग आदि पर बल देते हैं। यदि व्याकरणिक दृष्टि से देखें तो ध्वनियों से शब्द बनते हैं। शब्दों के समाहार से भाषा बनती है। लेकिन कलाकार या लेखक के कारण किस शब्द में क्या अर्थ है? इस पर अज्ञेय बहुत जोर देते थे। वे लिखते हैं – "लेखक के नाते और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ निःसंदेह, लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्त्व रखता है।"[56]

अज्ञेय के इस कथन से स्पष्ट है कि कवि या लेखक के लिए भाषा तो आवश्यक है, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक शब्द हैं। जिससे कवि अपनी अनुभूति को भावक तक पहुंचाने में समर्थ होता है। काव्य–सम्प्रेषण के महत्त्व के विषय में अज्ञेय लिखते हैं "काव्य सम्प्रेषण न केवल भाषा–व्यवहार है, वह भाषागत व्यवहार का इतना विशिष्ट पहलू है कि साधारण भाषा–व्यवहार वहाँ लगभग अप्रासंगिक हो जाता है।"[57] काव्य सर्जना के समय अनुभूति और अभिव्यक्ति के उपादानों के बीच एक द्वन्द्व होता है। यहाँ सामान्य भाषा व्यवहार से काम नहीं चलता। रचनाकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्दों में नये अर्थ भी भरता है। इसी संदर्भ में अज्ञेय लिखते हैं – "भाषा का मैं उपयोग करता हूँ। उपयोग करता हूँ लेखक के नाते, कवि के नाते और एक साधारण सामाजिक मानव प्राणी के नाते, दूसरे सामाजिक मानव प्राणियों के साधारण व्यवहार के लिए। इस प्रकार एक लेखक के नाते मैं कला सृजन के माध्यमों में सबसे अधिक वेध्य माध्यम का उपयोग करता हूँ – ऐसे माध्यम का जिसको निरंतर दूषित और संस्कारच्युत किया जाता रहा है। अतः उसका उपयोग मैं ऐसे ढंग से करना चाहता हूँ कि वह नए प्राणों से दीप्त हो उठे। ऐसा मैं कैसे कर सकता हूँ ... हमेशा शब्द पर केंद्रित करके ही।"[58]

(ज) शब्द, पद, अंतराल

'सर्जना' और संदर्भ' में अज्ञेय लिखते हैं – "कवि शब्दों का न केवल भरपूर सार्थक प्रयोग करता है बल्कि कभी–कभी शब्दों या वर्णों का उपयोग न करके ही अर्थ की वृद्धि करता है – यानी शब्दों का ही अर्थगर्भ उपयोग नहीं, अर्थमौन का भी उपयोग करता है। मुझे हमेशा लगा है कि यही भाषा का श्रेष्ठ कलात्मक उपयोग है। जिसमें न केवल शब्दों के निहित और संभाव्य

अर्थों का पूरा उपयोग किया जाता है बल्कि उन अर्थों का भी जो कि शब्दों के बीच के शब्दहीन अंतराल से भरे जा सकते हैं।"[59]

उल्लेखनीय है कि अर्थ शब्दों में होता है और कविता शब्दों में होती है। भाषा का निर्माण शब्द से होता है। भाषा के माध्यम से रचनाकार अपनी बात अभिव्यक्त करता है। शब्द और भाषा तथा शब्द और शब्द के बीच अंतराल होता है। उस अंतराल के विषय में अज्ञेय लिखते हैं – "कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की नीरवता में होती है। और कवि सहज बोध से यह जानता है कि उससे दूसरे छोर तक पहुंचा जा सकता हैं, उससे संलाप की स्थिति पाई जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।"[60]

2.3 अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना

अज्ञेय अपने सिद्धांत को व्यावहारिक आलोचना में भी प्रस्तुत करते हैं। इनके कई निबंधों में सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों आलोचनाओं का समावेश दिखाई पड़ता है। अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना का दायरा निर्धारित करें तो प्रेमचंद, निराला, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, फणीश्वरनाथ रेणु, रामधारी सिंह दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रामकृष्ण दास, सरोजिनी नायडू, जैनेन्द्र कुमार, हरिवंश राय बच्चन तथा महादेवी वर्मा की रचनाशीलता का विवेचन करते हैं।

अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना भक्तिकाव्य, रीतिकाव्य और आधुनिक साहित्य पर है। जिसमें उनका अधिक ध्यान आधुनिक साहित्य पर ही है। लेकिन अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना को विस्तार से समझने के लिए भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य पर लिखे गये उनके संक्षिप्त निबंधात्मक लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तिकाव्य के संदर्भ में उसके उद्‌भव एवं विकास को लेकर हिन्दी के कई आलोचकों ने अज्ञेय से पहले विचार किया। जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, के. दामोदरन, शिवकुमार मिश्र, रामविलास शर्मा, और मैनेजर पांडेय प्रमुख हैं। अज्ञेय की व्यावहारिक आलोचना को समझने के क्रम में आलोचकों के विचारों का भी सहारा लिया जाएगा।

भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में हिन्दी आलोचना में दो आलोचकों का मत प्रसिद्ध है जिसमें एक आचार्य रामचंद्र शुक्ल और दूसरे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। अज्ञेय ने इस विषय पर विचार किया। भक्तिकाल के उदय के बारे में एक धारणा यह है कि विदेशी आक्रांताओं द्वारा भारत में रहने वाली जातियों की धार्मिक आस्थाओं को कुचले जाने के फलस्वरुप प्रतिक्रिया के रूप में वह उत्पन्न हुई थी। वह धारणा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की है। भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में अज्ञेय का विचार इस तथ्य से मिलता–जुलता है। बल्कि उसके समर्थक प्रतीक होते हैं। 'सर्जना और संदर्भ' में अज्ञेय भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में लिखते हैं – "बाहर से जो ताकतवर हमला देश पर हुआ, जिसके कारण एक नई जाति देश के लोगों से मिलकर एक जान हो गई। देश के लोग अपनी हार के इतने आदी नहीं हुए थे कि इस नयी जाति की शान में ही अपनी शान समझें और उसी के मार्फत जिए और बढ़े। इसलिए देश की ज्यादातर जनता के दिल में गहरा दर्द था और उस दर्द का इलाज न

दिखने के कारण दर्द में भारी निराशा भी थी। उनके हौसले पस्त थे।"[61] इस प्रकार आलोचक अज्ञेय यह मानते हैं कि टूटती मनःस्थिति को संभालने और उसमें नई स्फूर्ति भरने के लिए एक सहारे की आवश्यकता हुई, जो भक्ति के रूप में प्राप्त हुई।

गौरतलब है कि भक्तिकाल के उदय को लेकर एक आम धारणा यह भी थी कि वह आंदोलन एक नए समुदाय के आने तथा उसके शासन के कारण देश में रह रहे समुदायों के शोषण के प्रतिरोध में हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं – "आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर–दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए थे। इतने भारी राजनैतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जन–समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी भी छाई रही, अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[62] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस मत का खंडन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह कह कर किया – "मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।"[63] कहने का मतलब यही है कि भक्ति आंदोलन केवल इस्लाम के प्रभाव के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था। रामचंद्र शुक्ल की तरह अज्ञेय भी भक्ति आंदोलन के मूल में न जाकर उसकी उत्पत्ति के कारणों की खोजबीन करते हैं। अज्ञेय इससे सहमत हैं कि निराशा के माहौल में लोग भक्ति अथवा धर्म के तरफ उन्मुख होते हैं। भक्त की शक्ति और कर्म का मंत्र देने की जगह पर भक्ति उसे शांति और संतोष के मार्ग पर ले जाती है। अज्ञेय 'सर्जना और संदर्भ' लिखते हैं – "वह (भक्ति) एक नशीली चीज़ होती है जिससे लोग अपनी आत्मा में एक खास तरह का ढ़ीलापन पैदा कर लेते हैं और उसी की पिनक में ऊँघते रहते हैं। एक तो इंसान स्वभाव से ही सगुण पूजक और धर्म परास्त होता है, फिर उसकी पूजा और परस्तिश में शृंगार बढ़ने लगता है। भक्ति प्रेम बनती है और फिर प्रेम निरी विलासिता बन जाता है।"[64]

अज्ञेय ने 'हिन्दी साहित्य : चौपाई' नामक लेख में भक्तिकालीन कवियों तुलसी, जायसी और कबीर पर विचार किया है। वे लेख के प्रारंभ में चौपाई छंद के उद्‌भव एवं विकास की जांच–पड़ताल करते हैं। वे लिखते हैं – "रामायण की चौपाई जैसी मँझी हुई और समग्र रचना को पढ़कर अनुमान होता है कि तुलसी से पहले भी चौपाई छंद चालू रहा होगा,

पर लोग इसकी जाँच करने की जरूरत कम ही समझते हैं, क्योंकि तुलसी की चौपाइयाँ ही उन्हें काव्य का पूरा रस दे देती हैं और उसके बाद नयी चीज की मांग ही उनमें नहीं रहती।"[65] आगे अज्ञेय भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में विचार करते हैं, जहाँ वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल से सहमत प्रतीत होते हैं। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

अज्ञेय इसी लेख में आगे लिखते हैं – "कुछ ऐसी ही हालत तुलसीदास के जमाने में भक्ति मार्ग के कवियों की हुई। बल्कि आगे यह श्रृंगारिक भक्ति विलास और शारीरिक भोग–लिप्सा से ऐसे उलझ गई कि मामूली आदमी के लिए कविता पढ़ना, लिखना मुश्किल हो गया। कविता दरबार की चीज होती थी, जहाँ शोहदे कवित्तबाज़ ऐयाश राजाओं के सामने अपनी सफाई दिखाकर रुपया ऐंठने का पेशा करने लगे।"[66] अज्ञेय का यह कथन तुलसीदास के पूर्ववर्ती कवि विद्यापति की ओर संकेत करता है जोकि तिरहुत के राजा शिव सिंह के दरबारी कवि थे। विद्यापति को लेकर हिन्दी आलोचकों में विवाद है कि वह श्रृंगारी कवि हैं या भक्त कवि। इसके संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का महत्त्वपूर्ण कथन है – "आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बड़े सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर कुछ लोगों ने जैसे गीत गोविंद के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही के इन पदों को भी।"[67] स्पष्ट है कि विद्यापति की रचनाओं को न भक्ति की कविता के अंतर्गत माना जा सकता है और न उनकी श्रृंगारप्रियता को अश्लील और भोग लिप्सा के दायरे में रखा जा सकता है। अज्ञेय का यह कथन तुलसी के बाद के रीतिकालीन कवियों के लिए सार्थक सिद्ध हो सकता है। इन कवियों के यहाँ आंगिक मुद्राओं एवं अश्लील चेष्ठाओं वाली कवितायों की अधिकता है। ऐसी स्थिति में तुलसीदास ने भक्तिकाव्य पर पड़ने वाले खतरे के प्रभाव को कैसे समझा और उसे बचाया। इस संदर्भ में अज्ञेय लिखते हैं – "ऐसी ही दिशा में भक्तिकाव्य बह रहा था जब तुलसीदास काव्य जगत में प्रकटे। इस धारा को और इससे पैदा होने वाले खतरे को उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया और इसी का खण्डन करने के लिए उन्होंने एक नया आदर्श देश के आगे रखा। ...तुलसी की राम भक्ति सिर्फ भक्ति नहीं थी उसमें लोकधर्म का आदर्श भी था।"[68]

सूफी कवि जायसी का मूल्यांकन करते हुए वे लिखते हैं – "सहज पंथियों के बाद जरूर पद्मावत और इंद्रावती के कवि आते हैं। पर उनकी और इनकी भावना में गहरा भेद है। सहजपंथी शून्यवादी थे। जायसी आदि प्रेम कथा कहने वाले।"[69] पद्मावत और

रामचरितमानस (रामायण) की तुलना करते हुए वे लिखते हैं – "पद्मावत और रामायण के कवियों की 'स्पिरिट' में बहुत अंतर था। ...'पद्मावत' प्रेम की कहानी है, पूरे जीवन की कहानी नहीं है। रामायण में प्रेम भी लोक व्यवहार से अलग नहीं। लंका–दहन प्रेमी का प्रयास नहीं है, फ़रहाद के पहाड़ काट गिराने की तरह नहीं है, वह वीर–धर्म नायक के कर्त्तव्य के रूप में ही दिखाया गया है। 'पद्मावत' का प्रेम भी मामूली प्रेम नहीं है, वह उससे कहीं और बड़ा और आदर्शात्मक है, किंतु यह भेद सिर्फ दर्जे का है, वस्तु का नहीं। रामायण का प्रेम तो चीज ही दूसरी है। पद्मावत आदर्शात्मक होकर भी है, शृंगार काव्य; रामायण लोकधर्म को रखकर पूरे जीवन का काव्य है।"[70]

कबीर और तुलसी का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए वे लिखते हैं – "...इसके लिए खरी–खोटी सुनाने या शास्त्र और शास्त्रियों की निंदा करने की जरूरत तुलसी को नहीं पड़ी; न बदले में मूर्ख कहलाना पड़ा। यहीं पर उसकी सुधारक वृत्ति कबीर से भिन्न थी। कबीर की सीख मानों आंधी की तरह पुराने संस्कारों को तहस–नहस करती हुई चलती थी। समाज के जीवन में बवंडर उठा देती थी। वह खरी दो टूक बात कहते थे और परवाह नहीं करते थे कि किसे चोट पहुंचाती है। इसीलिए विद्वानों ने उन्हें अपनाने के बजाय गालियां दी और मूर्ख कहकर कोसा, उनकी बातें भी आम जनता में नहीं मानी गयीं। दूसरी और तुलसी ने यह दर्शाया कि वह नया कुछ नहीं कहते, जो सनातन है उसी का पवित्र संदेश उनके पास है। शुद्ध सनातन के नाम पर ही उन्होंने नए विचार दिये, राम को शबरी के जूठे बेर खिलाए और वशिष्ठ को अछूत निषाद के गले मिलाया। लोगों के बिना जाने ही वह उनके दिलों में घर कर गये और उन्हें एक नये रास्ते पर डाल गये। जो संसार के फंदे में फंसे थे; उन्हें धर्म की ओर खींचा, जो धर्म के चक्कर में जीवन से पल्ला छुड़ा बैठे थे, उन्हें लौकिक कर्त्तव्य की याद दिलायी और इस सब उथल–पुथल के बाद भी नम्र बने रहें और अनपढ़ जनता, साधारण गृहस्थ और विद्वान पंडितों से सम्मान पाते रहे।"[71]

भक्तिकालीन प्रमुख कवियों की व्यावहारिक आलोचना के बाद अज्ञेये रीतिकालीन कवि केशवदास का मूल्यांकन करते हैं। हिन्दी आलोचना में केशव के काव्य का मूल्यांकन करने वालों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम प्रमुख है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में केशव के विषय में लिखते हैं – "केशव को

कवि हृदय नहीं मिला था, उनमें वह सहृदयता तथा भावुकता भी न थी जो एक कवि में होनी चाहिए थी। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचनाकौशल की धाक जमाना चाहते थे, पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था।"[72] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस विचार का प्रभाव हिन्दी आलोचना में लंबे समय तक रहा, बाद में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अलग ढंग से विचार किया। वे लिखते हैं – "कहा गया है कि केशव का काव्य कठिन है। कठिन काव्य पहले समझ में आए तब तो। केशव के कठिन काव्य को पहले स्मरण कौन करे और स्मरण करेगा भी तो जो सुनेगा उससे पहले अर्थ लगेगा, तभी तो कार्य सधेगा, इस कठिनाई का यह अर्थ लगाया जाने लगा कि उनकी कविता में रस नहीं है, सहृदयता नहीं है। आचार्य शुक्ल ने उन्हें 'हृदयहीन' क्या लिख दिया, वह बेचारे रसिकों, सहृदयों, कवियों सबकी मंडली से खारिज किये जाने लगे। केशव परम्परा से इतने अभिभूत थे कि अपने हृदय का उपयोग उस अवसर पर नहीं कर पाते थे जिस अवसर पर शुक्ल जी के विचार से उसका योग अनिवार्य रूप से होना चाहिए।"[73]

अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में 'केशव की कविताई' नामक लेख में केशव का मूल्यांकन किया। यह व्यावहारिक आलोचना संवाद शैली में है। अज्ञेय ने तीन काल्पनिक पात्रों का सहारा लेकर केशवदास के काव्य का मूल्यांकन करने की कोशिश की है। इन तीन पात्रों में बलराज, त्रिपाठी और आनंद हैं। 'केशव की कविताई' में अज्ञेय ने केशवदास का सहानुभूतिपूर्वक मूल्यांकन किया है। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के केशवदास 'हृदयहीन और कठिन काव्य का प्रेत' जैसे मुहावरों से अलग होकर मूल्यांकन किया है। परन्तु बाद में वे कवि की जगह केशव को आचार्य ही सिद्ध करते हैं। केशव के चमत्कारिक वर्णन का प्रभाव आचार्य रामचंद्र शुक्ल और अज्ञेय दोनों की आलोचना में दिखता है। अज्ञेय लिखते हैं – "केशव ने अच्छा भी लिखा है, घटिया भी लिखा है, पर जो कुछ लिखा है, चमत्कार से भरा हुआ है। केशवदास के पीछे संस्कृत के पंडितों की कम से कम तीन पीढ़ियां थी। केशवदास संस्कृत के भारी पंडित थे, इसी पंडिताऊ परम्परा के कारण उनकी कविता कई जगह बहुत जटिल हो गई और उन्हीं के पथ पर चलने वाले एक कवि ने उन्हें काव्य का प्रेत कह डाला। केशवदास शेक्सपीयर के समकालीन थे। जैसे एलिजाबेथ के जमाने में अंग्रेजी विकास की चोटी पर पहुंच चुकी थी, वैसे ही केशव के जमाने तक भी हिन्दी कविता उस जगह पहुंच चुकी थी,

जहां से उसे एक शास्त्र की जरूरत थी। केशव ने इसका अनुभव किया और उसने पहले पहल हिन्दी को एक शास्त्र दिया।"[74]

अज्ञेय यह स्वीकार करते हैं कि कवियों की पीढ़ी ने केशवदास का अनुसरण नहीं किया, पर वे यह भी मानते हैं कि अगर वे केशव का अनुसरण करते तो रीतिकाल अपने अंतिम समय में अराजकता का शिकार न होता। अज्ञेय लिखते हैं – "केशव ने हिन्दी कविता की एक भारी कमी दूर की और अगर बाद के कवि भी इतना ही गंभीर ज्ञान रखने वाले होते तो हिन्दी की वह दुर्दशा नहीं होती जो रीतिकाल के अंत में हुई। ...केशव अग्रदूत थे, दूसरे केशव ने सर्वांगपूर्ण निरूपण करने का प्रयत्न किया, पीछे के कवि एक छोटे दायरे में ही चक्कर काटने लगे।"[75]

यह सही है कि केशव की काव्य शास्त्रीय परम्परा सम्पूर्ण रुप से स्वीकार न की गई हो परन्तु उसका प्रभाव दूर तक दिखाई पड़ता है अर्थात् उनके परवर्ती कवियों तक। इस विषय में अज्ञेय लिखते हैं – "बिहारी के दोहे इसलिए असर करते हैं कि वह पहले से बनी रुढ़ि का लाभ उठाते हैं ...।"[76]

त्रिशंकु में अज्ञेय ने 'चार नाटक' की व्यावहारिक आलोचना की है। इन नाटकों में क्रमशः महात्मा ईसा (पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'), स्कंदगुप्त (जयशंकर प्रसाद) रेवा (चंद्रगुप्त विद्यालंकार) और 'स्वप्नभंग' (हरीकृष्ण प्रेमी) आदि हैं। इनकी समीक्षा करने से पूर्व अज्ञेय नाटक की लोकप्रियता का कारण राजनैतिक जागृति बताते हैं। वे लिखते हैं – "हिन्दी नाटक की ओर लोगों का ध्यान तब गया जब देश में राजनैतिक जागृति के पीछे–पीछे साहित्य का भी नया जागरण हुआ। तब से धीरे–धीरे नाटक आगे बढ़ता गया है।"[77] इसके बाद अज्ञेय ने नाटकों की विषय–वस्तु का मूल्यांकन किया है। वे लिखते हैं – "तो आजकल के हिन्दी नाटक प्रायः सभी एक पुनरुत्थान की भावना से लिखे गए हैं, उद्देश्य उन सबका 'रिवाइवलिस्ट' है। कुछ अपवाद अवश्य हैं, जिनमें अपने समाज की और रूढ़ियों की तीखी आलोचना की गई है। पर अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अगर उनमें घटना की सच्चाई की थोड़ी–बहुत अपेक्षा भी हो जाए, तो भी उनमें दीखनेवाला स्पंदन होता है अपने इतिहास के ज्ञान का ही; अपने खोए हुए गौरव की याद और अपनी उलझकर रुक गई–सी संस्कृति की वेदना नाटकों की कथावस्तु के पीछे छिपकर बोलती है।"[78]

अज्ञेय ने पुनरुत्थान, ऐतिहासिकता और संस्कृति के दायरे में रखकर 'चार नाटकों' का मूल्यांकन किया है। वे चार नाटकों में इन्हीं प्रतिमानों से समानता का सूत्र स्थापित करते हैं। अज्ञेय यह भी स्पष्ट करते हैं कि पुनरुत्थान, ऐतिहासिकता और संस्कृति का प्रभाव केवल नाटकों पर ही नहीं था बल्कि हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं – कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि पर था। उस समय पश्चिमी समीक्षकों खासकर इलियट ने ऐतिहासिक चेतना पर बहुत जोर दिया था। इसका कारण पश्चिमी साहित्य का ऐतिहासिक चेतना से धीरे–धीरे दूर होना था। परंतु हिन्दी नाटकों में इस पर काम हो रहा था। अज्ञेय लिखते हैं – "आधुनिक हिन्दी साहित्य की – क्या नाटक और क्या कविता, क्या उपन्यास–कहानी और क्या लेख–निबंध – एक खास खूबी है यह बढ़ती हुई सांस्कृतिक चेतना, भले इन नाटकों में से एक नाटक सोलह साल पहले लिखा गया हो, और शायद दस साल पहले। हमारी समझ में यह इस बात का सबूत है कि हमारे साहित्य में जो जागृति – बल्कि जो नवजीवन – दीख रहा है उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं, और इससे हमें खुशी होनी चाहिए। यूरोप के आलोचक जिस घटती हुई सांस्कृतिक चेतना के कारण चिंतित हो रहे हैं, उसके बारे में हिन्दी को उतना चिंतित होने की आवश्यकता अभी नहीं है। ...अभी तो हम यही कहेंगे कि टी.एस. इलियट ने जिस ऐतिहासिक चेतना की बात कही है – the poet must live in what is not merely the present, but the present moment of the past, be conscious, not of what is dead, but of what is already living (अर्थात् 'कवि जीता है न केवल वर्तमान में, बल्कि अतीत के वर्तमान क्षण में, चेतनाशील है उसके प्रति, जो कि मर नहीं गया है : वरन् पहले से ही जीवित था)"[79] वह चेतना कम से कम हमारे नाटककारों में काम कर रही है।

ऐतिहासिक चेतना के आधार पर अज्ञेय महात्मा ईसा और स्वप्नभंग को कमजोर कृति मानते हैं। जबकि स्कंदगुप्त में उसे सशक्त रूप से उभरी हुई मानते हैं। 'महात्मा ईसा के विषय में अज्ञेय लिखते हैं – "...इस दृष्टि से 'उग्र जी' का नाटक निराशाजनक है। ईशा के जीवन में सबसे अधिक नाटकीय संघर्ष के क्षण को नाटककार ने नहीं चुने हैं।"[80] प्रसाद के स्कंदगुप्त का मूल्यांकन करते हुए वे लिखते हैं – "प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' में नाटकीय 'यूनिटी' (ऐक्य) की और भी उपेक्षा की गई है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि ऐतिहासिक चेतना 'प्रसाद' की सबसे अधिक सचेत है, जिस युग का चित्र उन्होंने खींचना चाहा है, उसके प्रति सच्चे होने का प्रयत्न भी सबसे अधिक उन्हीं के नाटकों में है।"[81]

हिन्दी कहानीकारों में सत्यवती मलिक प्रसिद्ध नाम तो नहीं है, पर अज्ञेय ने अपनी व्यावहारिक आलोचना का एक बार फिर परिचय दिया। उन्होंने सत्यवती मलिक की कहानी 'दो फूल' की किसी पत्र में छपी समालोचना के जवाब में थी। वे लिखते हैं – "उस दिन एक पत्र में समालोचना का स्तंभ देखते हुए हठात् श्रीमती सत्यवती मलिक की पुस्तक 'दो फूल' की आलोचना पर दृष्टि अटक गई। आलोचना पढ़कर चौंका। "कहानियाँ जीवन की समस्याओं को छूती हुई हैं। मानवी जीवन का संघर्ष व मानवी स्वभाव का उनमें बड़ी सफलता से चित्रण किया गया है। चित्र–चित्रण की यह स्वाभाविकता, मानवी समाज का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही उनकी कला का प्राण है। मालूम होता है एक–एक कहानी सत्यवती जी ने जीवन की एक–एक समस्या को सुलझाने और चित्रण करने के लिए लिखी है। "... यों शायद इसमें चौकाने की बात नहीं मालूम होती, किंतु वास्तव में 'दो फूल' में जो गुण आलोचक महाशय बता रहे थे वे या तो उसमें हैं ही नहीं या बहुत अप्रधान रूप से हैं।"[82] अज्ञेय 'दो फूल' का मूल्यांकन करते हुए दिखते हैं – 'दो फूल' के गुण दूसरे हैं। वह सबसे पहले एक कलावस्तु है, कीट्स की आनंददायिनी 'थिंग ऑफ़ ब्यूटी' है। बल्कि और नपी तुली बात कहें तो 'दो फूल' एक ऐसे व्यक्ति के मनोभावों का प्रतिबिंब है जिसकी सौन्दर्यानुभूति औसत से काफ़ी ज्यादा है। मानव जीवन के, खासकर नारी–जीवन के, दुख–क्लेश का जिक्र पुस्तक में है, किंतु लेखिका का सम्बन्ध सौन्दर्य की खोज करने वाले का ही सम्बन्ध है, सुधारक का नहीं, दार्शनिक का नहीं, निरे रूखे यथार्थ सत्य की खोज करने वाले का नहीं।"[83]

'आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा' इसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा हुआ था। इसका मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय उल्लेख करते हैं कि छायावाद शब्द नए आविष्कार के उत्साह से आया तथा अपनी चरम अवस्था को प्राप्त भी किया लेकिन जब वह अपने पतनशील अवस्था में था, तभी 'आधुनिक काव्य : महादेवी वर्मा का प्रकाशन हुआ जिसमें महादेवी ने अपनी सर्वोत्कृष्ट चुनी हुई पचहत्तर कविताओं की सूची प्रदान की थी। इस पर अज्ञेय प्रश्न करते हैं कि क्या किसी लेखक द्वारा चुना हुआ ही सर्वोत्कृष्ट हो सकता है। पाठकों का प्रिय तो लेखक के चुनाव से अलग भी हो सकता है। महादेवी का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "महादेवी जी उच्चकोटि की कवि और कलाकार हैं। परिचित सत्य को इस संग्रह की कविताएं प्रमाणित करती हैं। कोमल और बहुधा करुण–भाव–धारा, सुघड़

संयत शब्दावली, मँजी हुई शैली और असाधारण लयमयता महादेवी जी की कविता के सब गुण इस संग्रह में झलकते हैं। अपनी कविता की चर्चा करते समय महादेवी जी ने स्वयं एकाधिक बार बुद्ध अथवा मीराबाई अथवा रहस्यवादियों का नाम लिया है; उनकी कविता में करुणा है; किंतु बुद्ध की सी व्यापक करुणा नहीं है; आत्मनिवेदन है, किन्तु मीराबाई जैसी निरपेक्ष तन्मय आत्मविस्मृति नहीं; असीम की खोज और हल्का स्पर्शानुभव है, चिंतन है, किन्तु रहस्यवादियों का अटपटा, अनगढ़ तेजस्वी, दार्शनिक असंतोष नहीं। मीराबाई की व्याकुलता इतनी व्यक्तिगत है कि कला की निर्वैयक्ति कसौटी पर खरी नहीं उतरती।"[84]

संदर्भ सूची

1. तारसप्तक – सं. अज्ञेय, पृ. 221
2. वही, पृ. 9
3. वही, पृ. 10
4. आधुनिक साहित्य, नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 65
5. दूसरा सप्तक – सं. अज्ञेय, पृ. 6
6. वही, पृ. 7
7. वृहत हिन्दी कोश – सं. कालिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, पृ. 59
8. दूसरा सप्तक – अज्ञेय, पृ. 6
9. तारसप्तक – अज्ञेय, पृ. 243
10. वही, पृ. 243
11. वही, पृ. 222
12. वही, पृ. 8
13. तीसरा सप्तक – अज्ञेय, पृ.6
14. आत्मनेद – अज्ञेय, पृ. 24
15. वही, पृ. 123
16. वही, पृ. 84
17. पुष्करिणी – अज्ञेय, पृ. 10
18. भवंती – अज्ञेय, पृ. 78
19. वही, पृ. 95
20. अंतरा – अज्ञेय, पृ. 61
21. वही, पृ. 67
22. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 242
23. वही, पृ. 245
24. आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 67
25. सर्जना और सदर्भ – अज्ञेय, पृ. 132
26. वही, पृ. 133
27. स्मृतिछंदा – अज्ञेय, पृ. 39
28. भवंती – अज्ञेय, पृ. 43
29. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 58
30. वही ,, पृ. 59
31. त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. (भूमिका से)
32. वही, पृ. 42
33. वही, पृ. 44
34. वही, पृ. 49

35. त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. 52
36. वही, पृ. 53
37. वही, पृ. 59
38. वही, पृ. 60
39. वही, पृ. 60
40. वही, पृ. 63
41. केन्द्र और परिधि – अज्ञेय, पृ. 104
42. वही, पृ. 158
43. वही, पृ. 162
44. वही, पृ. 162
45. त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. 33
46. शेखर एक जीवनी – अज्ञेय, पृ. 23
47. रचना : क्यों और किनके बीच अज्ञेय से कुछ संवाद – अज्ञेय, पृ. 76
48. त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. 67
49. शेखरःएक जीवनी – अज्ञेय, पृ. 57
50. लिखि कागद कोरे – अज्ञेय, पृ. 82
51. अपने–अपने अजनबी – अज्ञेय, पृ. 79
52. अंतरा – अज्ञेय, पृ. 74
53. शास्वती – अज्ञेय, पृ. 118
54. सर्जना एवं संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 330
55. तारसप्तक – अज्ञेय, पृ. 308
56. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 187–188
57. सर्जना के क्षण – अज्ञेय, पृ. 8
58. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 189
59. वही, पृ. 190
60. वही, पृ. 190
61. सर्जना एवं संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 6
62 हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 33
63. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास – हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 59
64. सर्जना एवं संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 107
65. वही, पृ. 105
66. वही, पृ. 107
67. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ.
68. सर्जना एवं संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 107
69. वही, पृ. 105

70. सर्जना एवं संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 110
71. वही, पृ. 111
72. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 115
73. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग 2 – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 71
74. त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. 125
75. वही, पृ. 126
76. वही, पृ. 127
77. वही, पृ. 128
78. वही, पृ. 128
79. वही, पृ. 129
80. वही, पृ. 129
81. वही, पृ. 130
82. वही, पृ. 135
83. वही, पृ. 138
84. वही, पृ. 138

अध्याय–तीन

मुक्तिबोध का आलोचना-कर्म

3.1 मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का विकास क्रम

3.2 मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना

3.3 मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना

3.1 मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का विकास क्रम

सामान्यतया लोग मुक्तिबोध की चर्चा कवि के रूप में करते हैं, लेकिन तथ्य यह है कि उन्होंने गद्य भी विपुल मात्रा में लिखा है। मुक्तिबोध गंभीर आलोचक हैं। मुक्तिबोध रचनावली छः खण्डों में प्रकाशित है। जिसमें से चौथा और पांचवा खण्ड उनके आलोचनात्मक लेखन का संग्रह है। बारीकी से अध्ययन किया जाय तो एक ओर 'एक साहित्यिक की डायरी' में कला और उसकी रचना–प्रक्रिया पर विचार है जो कि उनकी सैद्धांतिक आलोचना है, तो दूसरी ओर 'कामायनीः एक पुनर्विचार' है जिसमें कामायनी का नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया गया है जो कि उनकी व्यावहारिक आलोचना हुई। मुक्तिबोध ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचनाओं के माध्यम से अपने समय के रचनात्मक सवालों से जमकर बहस की है।

मुक्तिबोध के रचनाकर्म और आलोचना कर्म को पढ़ते समय उनमें पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। वे एक दूसरे के पूरक भी प्रतीत होते हैं। मुक्तिबोध किसी विषय पर विचार करने से पूर्व उसके पक्ष–विपक्ष दोनों का गंभीरता से मूल्यांकन करते हैं। उन्हें क्या लिखना हैं? कैसे लिखना है? कौन से सामाजिक–साहित्यिक सिद्धांत संगत हैं? यदि संगत नहीं है तो क्यों नहीं? ये सारे सवाल मुक्तिबोध के आलोचना कर्म की मूल प्रवृत्ति हैं। एक पाठक उनकी आलोचना एवं रचना के अंतःसम्बन्धों को इन्हीं मूल प्रवृत्ति से अनुभव करता है।

मुक्तिबोध के आलोचना कर्म को सरलता से समझने के लिए उसके तीन विकास क्रम निर्धारित किये जा सकते हैं। यह विकास क्रम दशकों पर आधारित है –

पहला–1930–1940 के दौरान मुक्तिबोध ने छायावादी शैली के प्रभाव में अनेक कविताएं लिखी थीं। ये कविताएं मुक्तिबोध रचनावली खण्ड–1 में संगृहीत हैं। इस दशक में मुक्तिबोध का आलोचना रूप नहीं उभरा था। दूसरा–1940–1950 का दशक जिसमें मुक्तिबोध पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा। मार्क्सवाद के अलावा वर्गसां का भी प्रभाव इन पर पड़ा। अतः इसे वर्गसेनीय काल भी कहा जा सकता है। गौरतलब है कि इस समय तक मुक्तिबोध का आलोचक रूप नहीं उभरा था।

तीसरा–1950 के बाद का दशक। इसे प्रौढ़ काल कहा जा सकता है। इस दशक में मुक्तिबोध ने आलोचना एवं हंस आदि पत्रिकाओं में लेख लिखे। पहला, कामायनी : एक

पुनर्विचार और दूसरा, 'एक साहित्यिक की डायरी'। आगे चलकर दोनों लेख स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। मुक्तिबोध ने 'कामायनीः एक पुनर्विचार' को इसके पूर्व भी प्रकाशित कराने की कोशिश की थी लेकिन छप जाने के बावजूद भी वह पुस्तक रूप में प्रकाशित न हो सकी। अंततः 1961 में वह प्रकाशित हो गयी।

इसी प्रकार 'एक साहित्यिक की डायरी' की प्रकाशन शृंखला 1950–1963 तक चली जिसमें 'वसुधा', पत्रिका में अधिकतर लेख छपे थे। प्रायः मुक्तिबोध के आलोचना के विकास क्रम पर कम ध्यान दिया गया। इसी को ध्यान में रखकर उनके आलोचनात्मक विकास क्रम पर विचार किया गया है। पहले ही कहा जा चुका है कि 1930–1940 के बीच मुक्तिबोध आलोचना क्षेत्र में सक्रिय नहीं थे। वे 1940–1950 के बीच कामायनी पर हंस' में लेख लिखने के बाद, एक के बाद एक लगभग नौ (9) दर्जन लेख पत्र–पत्रिकाओं में लिखे। जिसमें 'आत्मवक्तव्य' महत्त्वपूर्ण है। इस दशक के अंत में उन्होंने 'एक साहित्यिक की डायरी' भी सिलसिलेवार लिखना शुरू कर दिया था।

'कामायनी' पर मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि अलग तरह की रही। उन्होंने कामायनी को एक विशाल फैंटेसी घोषित करते हुए उसके अर्थ को वर्तमान ऐतिहासिक संदर्भों में उद्‌घाटित करने का प्रयास किया और इस प्रक्रिया में उसके अन्तः तत्त्वों का विवेचन करते हुए उसमें अन्तर्निहित अन्तर्विरोधों को पहचाना।

'एक साहित्यिक की डायरी' मुक्तिबोध की ऐसी रचना है जो न तो तिथिवार डायरी की तरह लिखी गयी है, न उसकी विधा को परिभाषित करना आसान है। इसमें कहानी, निबंध, आलोचना, विवाद, संस्मरण और आत्मविश्लेषण सब–कुछ विद्यमान है। डायरी के पन्नों पर रचना–प्रक्रिया, कलात्मक मान्यताएँ, सौन्दर्य मीमांसा, फैंटेसी–शिल्प के गंभीर विश्लेषण के साथ ही रचनाकार की ईमानदारी और दायित्व चेतना जैसे सवालों पर गहरी प्रतिबद्धता और निजता के साथ मुक्तिबोध ने संवाद किया है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "सच्चा लेखक अपने खुद का दुश्मन होता है। वह अपनी आत्मशांति भंग करके ही लेखक बना रह सकता है।"[1]

1940–1950 के दशक की महत्त्वपूर्ण आलोचना में 'आत्मवक्तव्य' है। यह लेख पहले 'तारसप्तक' (1943) में छपा था। इसमें मुक्तिबोध लिखते हैं – "दार्शनिक प्रवृत्ति–जीवन और जगत के द्वन्द्व – जीवन के आंतरिक द्वन्द्व – इन सबको सुलझाने की और एक अनुभवसिद्ध

व्यवस्थित तर्क प्रणाली अथवा जीवन दर्शन को आत्मसात कर लेने की दुद्रम प्यास मन में हमेशा रहा करती है। आगे चलकर मेरी काव्य की गति को निश्चित करने वाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। सन् 1935 में काव्य आरंभ किया था, सन् 1936 से 1938 तक काव्य के पीछे कहानी चलती रही। 1938 से 1942 तक पांच साल तक मानसिक संघर्ष और वर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। ... वर्गसों की स्वतंत्र क्रियाभाव जीवन–शक्ति (Elanvital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ी। ... सन् 1942 के प्रथम और अंतिम चरण में मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था। ... क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ।"[2] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन की विधिवत शुरूआत सन् 1942 के बाद होती है। जिसके निर्माण में मार्क्सवाद की प्रमुख भूमिका है।

मुक्तिबोध के रचनाकर्म और आलोचना कर्म से स्पष्ट होता है कि उनका सम्बन्ध प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता से है। वे प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता को किस रूप में देखते हैं और उनकी साहित्य, समाज; राजनीति आदि के विषय में क्या मान्यताएँ हैं। यह गंभीर विषय है। मुक्तिबोध के आलोचना कर्म से स्पष्ट होता है कि वे प्रगतिवादी रचना–आलोचना से पूर्णतः संतुष्ट नहीं थे। एक ओर ईमानदार सर्जक की तरह वे इस असंतुष्टि को बकायदा प्रस्तुत करते हैं। उस पर सोचते और लिखते हैं ताकि स्पष्ट हो सके। दूसरी ओर जब प्रगतिवादी मूल्यों–सिद्धांतों पर कोई आक्रमण करता है तो उसका बचाव भी करते हैं।

मुक्तिबोध के आलोचना के केन्द्र में नयी कविता का मूल्यांकन प्रमुख है। प्रगतिवादी आलोचकों ने नयी कविता का अंधाधुंध विरोध करके प्रतिक्रिया को मजबूत किया। हालांकि आवश्यकता इस बात की थी कि नयी कविता का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाता, लेकिन इस प्रवृत्ति को आलोचकों द्वारा उलझाने की कोशिश की गई। जैसा कि कहा जा चुका है कि मुक्तिबोध का अधिकांश आलोचना कर्म नयी कविता को ही लेकर हुआ है। नयी कविता को लेकर उत्तरोत्तर उनके विचार में स्पष्टता ही आयी।

'साहित्य के दृष्टिकोण' इस आलोचनात्मक लेख का सर्वप्रथम प्रकाशन 'कमल' पत्रिका, जून 1941 में हुआ। बाद में इसका संकलन 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक

में हुआ। यह उनकी एक आलोचनात्मक पुस्तक है। इस लेख में मुक्तिबोध ने यथार्थवाद पर विचार किया है। इसका मूल्यांकन करने पर स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध की यथार्थवादी विषय पर विकसित अवधारणा बहुत संगत नहीं है। इसमें वे लिखते हैं "पहले यथार्थवादी स्कूल में फैशनेबुल लोगों के रीति–रिवाज का अधिक चित्रण करते हैं और दूसरे यथार्थवादी स्कूल में कुरूपता का ही अधिक वर्णन रहा। ... एक तीसरा यथार्थवादी स्कूल और हुआ, जिसमें मनुष्य की काम–सम्बन्धी बातों का खुलेआम वर्णन किया गया और 'प्राइवेट लाइफ' ही सामने अधिक आयी। यह स्कूल भी, साधारणतः उच्च श्रेणीय नागरिकों के जीवन का चित्रण करता रहा और 'प्रकृतिवादी' स्कूल कहलाया।"[2] इसी लेख में यथार्थवाद की सीमा को कहानी, लेख, या उपन्यास के क्षेत्र तक सीमित कर दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध के मन में यथार्थवाद की धारणा अभी बहुत स्पष्ट नहीं है। वे लिखते हैं – "परन्तु व्यक्ति जितना सामाजिक है, उतना ही वैयक्तिक। कभी–कभी यथार्थवादी को भी कविता लिखने की सूझती है; और कल्पना–प्रधान कलाकार को कहानियाँ और लेख।"[3]

'आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ' इस आलोचनात्मक लेख का प्रकाशन 1941 में हुआ था बाद में 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में संकलित हुआ। इसमें मुक्तिबोध का व्यक्तिवादी झुकाव अधिक मुखर होता है। मुक्तिबोध लिखते हैं "मनुष्य साधारणतः मानस की ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएँ, अभिमान, बौद्धिक ज्ञान भी इसी छिछले पानी में पनपने से उसे बाह्य की ओर ले जाते हैं। बाह्य जगत में संतोष नाम की चीज़ नहीं मिल सकती। अपने अंदर सुख टटोलने के बजाय जब मानव–मन बाहर भटकता फिरता है, तब सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद आश्रय नहीं दे सकता, क्योंकि आशावाद का दूसरा नाम है 'आत्मबल'।"[4]

आगे इसी लेख में मुक्तिबोध ने हरिवंश राय 'बच्चन' की 'निशा निमंत्रण' को महादेवी एवं अन्य छायावादी रचनाकारों की रचनाओं से महत्त्वपूर्ण माना है। वे लिखते हैं – "दुखियों के प्रति सहानुभूति की गहराई जितनी अधिक मुझे 'बच्चन' में दिखाई दी, उतनी मुझे खेद है, छायावादी न दिखला सके।"[5]

1946–1950 के बीच मुक्तिबोध के लिखे गये लेखों में पहले की तुलना में ज्यादा तार्किकता और स्पष्टता दिखाई पड़ती है। इनमें 'धरती : एक समीक्षा', 'सुभद्रा जी की सफलता

का रहस्य', तथा 'सामाजिक विकास और साहित्य' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। 'धरती : एक समीक्षा' का प्रथम प्रकाशन 1946 ई. के 'हंस' में हुआ। इसमें मुक्तिबोध ने त्रिलोचन के काव्य को समझने की नयी दृष्टि प्रदान की है। उन्होंने 'धरती' की काव्यप्रवृत्तियों का तार्किक मूल्यांकन किया। मुक्तिबोध लिखते हैं – "कवि की अपनी अनूभूतियाँ बहुत संयम के साथ प्रकट होती हैं। उसमें चीख पुकार या अट्टहास का आलोड़न नहीं है। न वह चीज़ है जिसे आप अतृप्त वासना कह सकते हैं। इन सब दोषों से मुक्त, विचारों और भावनाओं से आलोकित, काव्य मिलना कठिन होता है। साथ ही कवि की प्रगतिशील अट्टहासपूर्ण आंतरिक क्षतिपूर्ति के रूप में नहीं आयी है। वरन् कवि के अपने जीवन संघर्ष से मँज–घिसकर तैयार हुई है।"[6] गौरतलब है कि यह निबंध बहुत लंबा है। इसमें त्रिलोचन के काव्य के सभी पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास है।

'सुभद्रा जी की सफलता का रहस्य' लेख सन् 1948 ई. में 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। यह लेख भी अपेक्षाकृत धरतीः एक समीक्षा से लंबा है तथा अतिमहत्त्वपूर्ण है। इसे मुक्तिबोध द्वारा लिखी गयी व्यावहारिक समीक्षाओं (आलोचनाओं) में मील का पत्थर माना जा सकता है। सुभद्रा कुमारी चौहान मुक्तिबोध से भिन्न प्रवृत्ति की कवयित्री हैं। फिर भी वे आलोचक के रूप में सुभद्रा कुमारी की सफलता के रहस्य को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

सुभद्रा जी का समय स्वाधीनता आंदोलन का था। देश राजनीतिक आजादी के साथ सामाजिक आजादी के लिए संघर्षरत था। जिसका प्रभाव सुभद्रा जी की कविताओं में दिखता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन ने समाज के अनेक वर्गों दलितों–शोषितों और महिलाओं पर अलग–अलग प्रभाव छोड़ा उसी प्रकार सुभद्रा जी की कविताओं में भी राष्ट्रीय आंदोलन, समाज के अनेक वर्ग, दलित–शोषित और महिलाओं का स्वर उभरता है। मुक्तिबोध इस लेख में लिखते हैं – "व्यक्ति के धरातल पर आकर इन्हीं रूपों ने देशभक्ति, वीरोत्साह, विश्वमानवता के प्रति आस्था के साथ मनुष्य–मनुष्य के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों अर्थात् उसके व्यक्तिजगत जीवन के प्रधान भावों का संगम करा दिया, और इस प्रकार मानव चेतना को एक ऐसे लोक के सिंहद्वार के सम्मुख उपस्थित कर दिया जिसको खोलने के उपरांत मनुष्य अपने जीवन को स्पृहणीय परिस्थितियों में देखकर आंकेगा।[7]

सुभद्रा जी की रचना–प्रकृति क्या है? इस विषय पर मुक्तिबोध लिखते हैं – "हमें स्थान–स्थान पर यह अनुभव होता है कि सुभद्रा जी अपने भावों को वैक्यूम में रखकर फिर उन

पर कविताएं नहीं रचती थीं, वरन् उन ताजा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को सहज रूप में काव्य महत्व प्रदान कर उन्हें पद्य–बद्ध कर देती थीं।"[8]

कहना न होगा कि सुभद्रा जी की रचना प्रक्रिया उसके सामाजिक संदर्भ और रचना का मूल्य सभी कुछ इस समीक्षात्मक लेख में सार्थक एवं तार्किक रूप से प्रस्तुत है। किसी को भ्रम की शिकायत न रह जाय इसलिए लेख के अन्त में मुक्तिबोध ने सुभद्रा जी के विषय में लिखा है – "सुभद्रा जी की पारिवारिक भावनाएँ कर्त्तव्यभिमुख हैं। परिवार शब्द यहाँ नागरिक शास्त्र के 'कुटुम्ब' शब्द का पर्यायवाची नहीं है। जो अपना सा हो जाय वही अपने परिवार का व्यक्ति।"[9] सुभद्रा जी की रचनाओं में जटिल वास्तविकता का स्नेह–संपृक्त सरल–बोध मिलता है। इसे उनकी सीमा और उपलब्धि दोनों माना जा सकता है।

'सामाजिक विकास और साहित्य' यह लेख 1950 ई. में प्रकाशित हुआ। यह लेख उस दौर का है जब मुक्तिबोध साहित्य और समाज में क्या सम्बन्ध है, उस पर गंभीरता से विचार कर रहे थे। 'सामाजिक विकास और साहित्य' लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि ह्रासकालीन समाज का साहित्य अनिवार्य रूप से ह्रासग्रस्त होता है, सही मायने में ऐसा नहीं है। किसी लेखक का साहित्य कैसे मूल्यों को प्रतिपादित करता है, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि वह अपने युग की कैसी शक्तियों से तादाम्य स्थापित करता है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "साहित्य का समाज से सम्बन्ध यांत्रिक नहीं है। ... तालस्टाय के उपन्यास अथवा ह्रासकालीन फ्रेंच पूंजीवादी मध्यवर्गीय समाज के अंदर उगने और पनपने वाला रोम्यां रोलां का साहित्य। ...किन्तु उसी समाज में जब–जब लेखक ह्रासग्रस्त शोषक वर्ग की परिधि में रहकर कला का सृजन करता है तब उसकी कला स्वयं ह्रासग्रस्त हो जाती है। साहित्यिक ह्रास के सभी चिह्न उनमें मौजूद होते हैं। उदाहरण के लिए मार्शल ब्रूस का साहित्य।"[10]

'समाज और साहित्य' इसका प्रकाशन 1950–51 ई. में हुआ। यह लेखक की कामायनी पुस्तक के अंतिम अंश के रूप में मुद्रित हुआ, परंतु अप्रकाशित रह गया। बाद में 'कामायनीः एक पुनर्विचार' में इसे जोड़ दिया गया। अंततः नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में इस लेख को संकलित किया गया। इस लेख के माध्यम से मुक्तिबोध ने यह दिखाने का प्रयास किया कि पतनशील जीवन मूल्यों के ऊपर वास्तविक प्ररिप्रेक्ष्य न मिलने पर रचनाकार को किन परेशानियों का सामना करना पड़ता है। मुक्तिबोध लिखते हैं कि "फ्रांस के अत्यंत संपन्न उच्च

वर्ग अथवा उसके प्रभाव में रहने वाले वर्ग की निरूपयोगिता अगर कुछ सृजन कर भी सकती है, तो वह मृत सृष्टि है। इस गतिहीनता की भयानक वेदना से पिकासोग्रस्त है। ... उसका विषय मृत सृजन है। ... उसकी गतिहीनता पिकासो के लिए मर्मभेदी है, किन्तु उससे ऊपर उसने गतिहीनता पर कोई परिप्रेक्ष्य नहीं अपनाया।"[11] यह लेख काफी लंबा है। मुक्तिबोध ने इसे तीन भागों में रखकर अध्ययन किया है।

मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के विकास क्रम को 1930–40, 1940–1950 ई. और 1950 ई. के बाद के दशकों के क्रम में देखा जा सकता है। इन पच्चीस–तीस वर्षों में मुक्तिबोध की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना उभरकर सामने आती है। मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के विकास क्रम को समझने के लिए इस खण्ड में उनके अलग–अलग प्रकृति के लेखों को शामिल किया गया है। इससे मुक्तिबोध की आलोचना का रूप स्पष्ट हो सकेगा।

3.2 मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना

मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना को दो चरणों में समझा जा सकता है। मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना में रचना–प्रक्रिया केंद्र में है। पहले चरण की उपलब्धि में उनका मौलिक लेख तीसरा क्षण (1958) ई. और दूसरा चरण 1958 के बाद लिखे गए निबंध। तीसरा क्षण रचना–प्रक्रिया की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लेख हैं इसमें अभिव्यक्ति निर्माण का सवाल प्रमुख है। तीसरा क्षण को यह सवाल सीमित दायरों में रखता है। केवल इसी से मुक्तिबोध के सैद्धान्तिक आलोचना को व्यापक स्तर पर नहीं समझा जा सकता। उनके 1958 के बाद के लेखों में भी सैद्धान्तिक आलोचना और रचना–प्रक्रिया को वृहत्तर जीवन संदर्भ में देखा गया है।

मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना में रचना–प्रक्रिया को तीन भागों में बांटकर देखा जा सकता है। पहला भाग – तीन क्षण के सिद्धांत, फैंटेसी और पुनर्रचित जीवन तथा सौन्दर्यानुभव पर विचार करता है। दूसरा भाग – कुछ विशेष संकल्पनाओं जैसे ज्ञानात्मक संवेदना, संवेदनात्मक ज्ञान और मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' पर विचार करता है। तीसरा भाग इस विश्लेषण से निकली समस्याओं को प्रस्तुत करता है।

कला के तीन क्षण

यह मुक्तिबोध का सबसे चर्चित सिद्धांत है। इस सिद्धांत की व्याख्या उनके मौलिक लेख 'तीसरा क्षण' में की गई है। यह सिद्धांत, रचना–प्रक्रिया को तीन क्षणों में विभाजित करता है। ये तीन क्षण हैं –

"कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है उस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटेसी अपनी आँख के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैंटेसी को शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपुर्णावस्था तक की गतिमानता।"[1] इस प्रकार कला के तीन क्षण हैं – अनुभव क्षण, फैंटेसी और शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया। अब सवाल उठता है कि इस सिद्धांत को क्षणों के रूप में क्यों संकल्पित किया गया है। इसका एक कारण हो सकता है रचना प्रक्रिया को अनुक्रमित करना

और क्षण को एक संगठित आकार देना। कला का पहला क्षण अर्थात् अनुभव का क्षण ही सही मायने में क्षणिक है। यह क्षण तीव्र होता है कला के शेष दो क्षणों के अंदर एक मर्म होता है जो रूपांतरित होता है। कला के दूसरे क्षण में फैंटेसी के वैयक्तिक अनुभव रूपांतरण द्वारा निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। इसके कारण फैंटेसी कभी भी कवि के व्यक्तिगत अनुभव से अपने–आपको बाध्य नहीं मानती। रचना–प्रक्रिया में इसीलिए अभिव्यक्ति की अपनी स्वायत्तता होती है। हालांकि रचना–प्रक्रिया कवि के व्यक्तिगत अनुभव से ही आरंभ होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि अभिव्यक्ति व्यक्तिगत है बल्कि यह अनुभवबद्ध है।

कला के तीसरे क्षण में निर्वैयक्तिक का अनुभव फैंटेसी में रूपांतरित होता है। और उद्देश्य से प्रेरित होकर उस फैंटेसी को शब्द–बद्ध कर देता है। इन तीनों क्षणों के माध्यम से मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के रूप में देखने का प्रयास किया है। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार फैंटसी अनुभव और दृष्टि के बीच के द्वंद्व से उत्पन्न होती है; और अभिव्यक्ति, भाव और भाषा के द्वंद से उत्पन्न होती है।

फैंटेसी और पुनर्रचित जीवन

स्पष्ट किया जा चुका है कि मुक्तिबोध कला के तीन क्षणों को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में देखने का प्रयास करते हैं। इस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण चरण तब आता है जब अनुभव और दृष्टि बदलने लगते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं – "...जब यह क्षण बहुत आगे तक प्रवाहित हो जाता है, तब आत्मपरकता में भी एक निर्वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता में भी आत्मपरकता उत्पन्न हो जाती है; मानव स्थिति–मुक्ति दृष्टि को अपनी स्थिति बद्धता प्रदान कर उसने अपने लिए स्थिति मुक्तता ले ली हो।"[2]

इस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना का जन्म होता है। रचना–प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उसमें ज्ञान और संवेदना किसी न किसी तरह आपस में निहित होते हैं। इसे फैंटेसी और पुनर्रचित जीवन की संकल्पना से समझा जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि फैंटेसी एक आंतरिक प्रक्रिया है। इसी प्रकार पुनर्रचित जीवन भी आंतरिक मनोमय प्रक्रिया का अंग है। हालांकि इन दोनों संकल्पनाओं में अंतर है। फैंटेसी की संकल्पना, अभिव्यक्ति निर्माण के संदर्भ में है और पुनर्रचित जीवन की,

वास्तविक या भोगे हुए जीवन के संदर्भ में है। पुनर्रचित जीवन के विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया : (1) वास्तविक जिये और भोगे जाने वाले जीवन की पुनर्रचना का सारतः एक होकर भी उससे अलग होना और अलग होकर भी सारतः एक होना। (2) कलाकृति जिस जीवन का बिम्बात्मक या भावात्मक प्रतिनिधित्व कर रही है, उस जीवन के समान सारी वास्तविकताओं और तत्सदृश सब संभावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करना, दूसरे शब्दों में सामान्यीकरण होना।"[3] इस प्रकार मुक्तिबोध दो बातों की ओर संकेत करते हैं – पहली, सारभूत समानता और अलगाव की और दूसरी प्रतिनिधित्व की।

सौंदर्यानुभव क्या है?

मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना में सौंदर्य की संकल्पना एक अलग पहलू पर केंद्रित है। 'तीसरा क्षण' में एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स अर्थात् सौन्दर्यानुभव को 'प्रसन्न' भावना को जीवन के नये–नये अर्थ खोजते समय उत्पन्न होना और अर्थ के महत्त्व की जागरूकता के रूप में देखा गया है। इसकी व्याख्या दार्शनिक ढंग से नहीं बल्कि फैंटेसी से उत्पन्न होती है। मुक्तिबोध ने सौन्दर्यानुभव को रचना–प्रक्रिया में निज–बद्धता से हटकर विस्तारित होने की भावना से देखा है। मुक्तिबोध सैद्धांतिक रूप से मानते हैं कि सौंदर्यानुभव का क्षण और कलात्मक अभिव्यक्ति रचना–प्रक्रिया के दो अलग–अलग चरण हैं। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि सौंदर्यानुभव के क्षण के तुरंत बाद कभी उसे शब्द–बद्ध करे।

संवेदनात्मक उद्देश्य क्या है?

इस सवाल के उत्तर में मुक्तिबोध एक लेख में लिखते हैं कि कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा संवेदनात्मक उद्देश्य है। 'तीसरा क्षण' में उद्देश्य की भूमिका जरूर दिखाई देती है, लेकिन उसको एक केंद्रीय संकल्पना के रूप में ही देखा गया है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "संवेदना के आग्रह – अर्थात् संवेदनात्मक उद्देश्य जिसमें शिक्षा के तत्त्व मिले रहते हैं – उनके बल से, उनके जोर से, उसकी विधायक कल्पना जीवन की पुनर्रचना कर बैठती है।"[4] मुक्तिबोध ने संवेदनात्मक उद्देश्य को 'आग्रह' के रूप में और 'इच्छा' से जोड़कर देखा है। संवेदनात्मक उद्देश्य के विषय में आगे वे लिखते हैं – "संवेदनात्मक उद्देश्य, भोगतृमन के उस स्वचेतन आवेग से उत्पन्न होते हैं जो स्वचेतन आवेग वांछित और वांछनीय को प्राप्त करने

के लिए तड़पता हुआ, अपनी निजबद्ध स्थिति से ऊपर उठकर, अंतर तथा बाह्य वास्तव में मानवानुकूल परिवर्तन करना चाहता है।"[5] इस प्रकार दो बातें स्पष्ट होती हैं – संवेदनात्मक उद्देश्य की उत्पत्ति और उसकी इच्छा। सवाल उठता है कि रचना–प्रक्रिया में सबसे पहले कौन शामिल होता है। संवेदनात्मक उद्देश्य अनुभव या अनुभव क्षण। इस पर मुक्तिबोध लिखते हैं – "संवेदनात्मक उद्देश्य अपने धक्के से हृदय में स्थित जीवनानुभवों अर्थात् ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और संकलित करके उन्हें, अपनी दिशा में प्रवाहित करते हैं।"[6] इससे हम यह निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि संवेदनात्मक उद्देश्य, रचना–प्रक्रिया में अनुभव–क्षण के लिए पहले से ही मौजूद होता है। अनुभव–क्षण एक लम्बी सक्रियता और निरंतरता की उपज है। संवेदनात्मक उद्देश्य अपनी दिशा में अनुभव को प्रवाहित करता है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में सक्रिय रहते हुए, मनुष्य के बाल्यकाल से ही उस जीवन–ज्ञान का विकास करते हैं, कि जिस जीवन–ज्ञान के बिना उन संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति ही नहीं हो सकती है।"[7]

मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना का आधार है –

1. मार्क्सवादी समीक्षा के मूल तत्त्व
2. कला–प्रक्रिया के वर्गीय आधार
3. सौन्दर्यानुभव और जीवनानुभव
4. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल
5. प्रतिबद्धता या पक्षधरता
6. वस्तु और रूप पर विमर्श

मुक्तिबोध ने साहित्य और जीवन को वस्तुवादी द्वंद्वात्मक आधारों पर विवेचित किया है। वे लिखते हैं – "साहित्य जीवन से उपजता है और अंततः उसका प्रभाव भी जीवन पर ही होता है।"[8] जीवन की जटिलताओं को मुक्तिबोध ने अपनी प्रगतिवादी दृष्टि से व्याख्यायित एवं विश्लेषित किया है। उन्होंने अपनी तीनों आलोचनात्मक कृतियों में साहित्य को जीवन के समकक्ष देखे जाने की अपेक्षा की है। 'नयी कविता का आत्म–संघर्ष तथा निबंध' पुस्तक की शुरुआत में मुक्तिबोध लिखते हैं – मैं मुख्यतः विचारक न होकर केवल कवि हूँ। किंतु आज

का युग ऐसा है कि विभिन्न विषयों पर उसे भी मनोमंथन करना पड़ता है। अपने काव्य–जीवन की यात्रा में जो चिंतन करना पड़ा, वह विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।"[9]

मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे, परंतु वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मार्क्सवादी शब्दावली और 'जार्गन' को पचाने में अभी हिंदी आलोचना सक्षम नहीं है। उन्होंने अपने को मार्क्सवादी शब्दावली से बचाया। लेकिन जीवन को देखने का उनका नजरिया मार्क्सवादी है। इसका प्रभाव उनके आलोचना कर्म में दिखाई पड़ता है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "हमारी आत्मा में जो कुछ है वह समाज प्रदत्त है, हमारा सामाजिक व्यक्तित्व ही हमारी आत्मा है।"[10]

मुक्तिबोध मार्क्सवादी होने के कारण साहित्य को सामाजिक वस्तु मानते हैं। समाज का विकास आर्थिक विकास के साथ–साथ होता है। उसके विकास का आधार अर्थ एवं उत्पादन के सम्बन्धों पर आधारित होता है। इसी धारणा के सहारे मुक्तिबोध लिखते हैं – "सामाजिक उत्पादन प्रणाली, कार्य विभाजन के अनुसार विविध वर्ग तथा उनके जीवनयापन की विशेष प्रणालियाँ ही मानव सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। एक वर्ग के भीतर सामाजिक सम्बन्ध सभी मानव सम्बन्ध है। ...ये मानव सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएं प्रकट होती रहती हैं।"[11]

कवि की रचना–प्रक्रिया और उसका जीवन भी वास्तविक जीवन से अलग नहीं होता। मुक्तिबोध लिखते हैं – "कवि के पार्श्व और प्रेक्ष्य की खोज, जीवन के पार्श्व और प्रेक्ष्य की खोज से अलग नहीं की जा सकती। कवि जीवन हमारे दैनिक जीवन का, अपेक्षिकतया, एक छोटा सा अंग है। इस कवि जीवन का ताना–बाना हमारे वास्तविक जीवन के ताने–बाने से गुंथा हुआ है।"[12] मुक्तिबोध ने जीवन को एक त्रिकोण के रूप में देखा है जिसकी एक भुजा बाह्य जगत है, दूसरी भुजा अंतरंग जीवन और जीवन के त्रिभुज की आधार रेखा हमारी अपनी चेतना है। इस विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "जीवन स्वरूपतः त्रिकोणात्मक होने के कारण, उसकी व्याख्या, किसी एक भुजा की अपेक्षा करके पूरी नहीं की जा सकती है। न केवल यह अधूरी रहेगी वरन् विकृत और एकांगी भी।"[13]

मुक्तिबोध कलाकार के लिए विश्वदृष्टि भी अनिवार्य मानते हैं। उन्हें यह मार्क्सवाद से ही प्राप्त हुई। वे लिखते हैं – "आज बहुत से कवियों के अंतःकरण में जो बेचैनी है, जो

ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है उसका एक कारण एक ऐसी विश्वदृष्टि का अभाव है जो उन्हें आभ्यांतर आत्मिक शक्ति और मनोबल प्रदान कर सके तथा उसकी पीड़ाग्रस्त अगातिकता को दूर कर सके।"[14]

कला प्रक्रिया के वर्गीय आधार

मार्क्सवादी विचारधारा की प्रमुख मान्यता यह है कि कला का वर्गीय आधार होता है। इसके अनुसार समाज में विभिन्न वर्गों में व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध आर्थिक आधारों पर होते हैं। इसके बनने की एक लम्बी और धीमी प्रक्रिया है। आज का समाज एक वर्ग–विभक्त समाज है। सामाजिक संघर्षों के कारण विभिन्न जीवन–मूल्य भी विभिन्न हो जाते हैं। 'मानवता' शब्द का किसी एक वर्ग के लिए वही अर्थ नहीं होता जो दूसरे वर्ग के लिए हो सकता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "असल में मेरे नजदीक तो कई मान्यताएँ हैं, एक मानवता नहीं। जब गोलियों से आए दिन आदमी भूने जाते हैं, तब किस मानवता की आप सेवा करना चाहते हैं? सरकार और पुलिस की मानवता की या गोली से भूने जाने वाली मानवता की?"[15]

मुक्तिबोध ने इसी कारण वर्गीय आधारों के ज्ञान की आवश्यकता पर पर्याप्त बल दिया। वे लिखते हैं – "आज की कविता का मूल प्रश्न जीवन–जगत के ज्ञान के अधूरेपन या पूरेपन, विकार ग्रस्तता या शुद्धता के प्रश्न के साथ अटूट रुप से जुड़ा हुआ है, आज के कवि को अर्थात् हमें ज्ञान पक्ष की के विकास की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही।"[16] साहित्य के वर्गीय आधार का ज्ञान मुक्तिबोध की दृष्टि से 'जीवन विवेक' है। इसके बिना लेखक या कवि सामाजिक यथार्थ विकृत रूप से उपस्थित करता है। अपने समसामयिक कविता में उभरने वाली वर्गीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "नयी कविता के क्षेत्र में भी दल तैयार हो रहे हैं। एक दल वह है जो उच्च व मध्यवर्ग का अंग है, दूसरे वे हैं जो निचले गरीब वर्ग से संबंधित हैं। उनकी वर्गीय प्रवृत्ति न केवल उनके काव्य में वरन् साहित्य सम्बन्धी उनके सिद्धांतों में भी परिलक्षित होती है।"[17]

मुक्तिबोध ने वर्गीय आधार को केवल सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तरों पर ही नहीं देखा, बल्कि मानसिक स्तर पर भी पहचाना। वे लिखते हैं – "वर्ग–विभाजित समाज में व्यक्ति का मन भी विभाजित होता है।"[18]

कला के वर्गीय आधार की बात करते समय मुक्तिबोध एक बात की और जानकारी देते हैं। उनके अनुसार कला के वर्गीय आधार होने के बावजूद साहित्य और समाज का सम्बन्ध यांत्रिक नहीं होता। वे लिखते हैं – "जब मार्क्सवादी यह कहते हैं कि साहित्य का विकास समाज के विकास पर अवलंबित है तो उसका आशय यह नहीं कि सामाजिक–राजनैतिक घटनाक्रम से यंत्रानुबद्ध होकर साहित्य अपना मार्ग बनाना चाहता है। उसका अभिप्राय यह है कि जिन सामाजिक, ऐतिहासिक शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र वे घटनावलियां हैं, वे ताकतें ही साहित्य के रूप और स्वरूप, तत्त्व और विचार को जन्म देती तथा विकसित करती रहती हैं। समाज के विकास, ह्रास तथा परिवर्तन के साहित्य में उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का स्वरूप ही नहीं दिखाई देता, वरन् साहित्य स्वयं उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का अंग हो जाता है।"[19]

किसी विशेष साहित्य–युग में विषयों का चयन भी वर्ग–स्थितियों के अनुसार होता है। साहित्य के विशेष विषयों को निश्चित करने वाली मनोवृत्तियाँ स्थिति–सापेक्ष होती हैं। कभी–कभी किसी मनोवृति के प्रणेता के रूप में किसी व्यक्ति–विशेष का नाम जोड़ दिया जाता है, लेकिन वास्तव में कोई विशेष प्रवृत्ति व्यक्ति–प्रदत्त न होकर समाज प्रदत्त होती है। छायावादी आंदोलन हो या यूरोप का रोमैंटिसिज़्म इनका श्रेय पंत, प्रसाद, महादेवी, निराला या शेली, कीट्स, वड्र्सवर्थ आदि को दिया जाता है। मुक्तिबोध इसे दूसरी तरह से देखते है। वे इनके मूल में मध्यवर्गीय जीवन–मूल्यों के प्रति विरक्ति भाव मानते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं – "यह विरक्ति जीवन की गतिहीनता का लक्षण तथा प्रतिबिंब था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा विश्व साम्राज्यवाद, पूंजीवादी समाज रचना के ह्रासकाल का ही द्योतक था।"[20]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने साहित्य विवेचन और वस्तुवादी समीक्षा के लिए वर्गीय आधार को आवश्यक समझा। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में कामायनी की व्यावहारिक समीक्षा उन्होंने कला के वर्गीय आधारों पर की है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न

लेखक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में मुक्तिबोध ने अनेक समीक्षात्मक निबंध लिखे हैं। मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रश्न को मानवोचित जीवन–रचना और

समाज–रचना के संदर्भ में रखकर देखा है। उनका मानना है कि व्यक्ति–स्वातंत्र्य का नारा विशुद्ध पूंजीवादी नारा है। यह शीतयुद्ध की देन है। पूंजीवादी व्यक्ति–स्वातंत्र्य और जनता–स्वातंत्र्य के लक्ष्य में अंतर है। यह अंतर विरोधाभासी और विपरीत है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "व्यक्ति अपना स्वतंत्र निर्णय तब तक नहीं कर सकता जब तक वह भीड़ का अंश है। समाज में जब तक व्यक्ति पृथक्–पृथक् है और मनन के जगत में रहकर निर्णय करने को स्वतंत्र है तब तक ही वह व्यक्ति है। ... परिणामतः लेखक – जोकि अकेले में रहता है – इसे अकेले में रहना ही अच्छा है। ...जनवाद ...समाजवाद ...भीड़ की मनोवृति का परिचायक हैं। ...व्यक्ति अपनी व्यक्तिसत्ता में अद्वितीय है; निःसंग है और ऐसी बाह्य प्रभावहीन निसंग स्थिति में ही वह स्वतंत्र निर्णय कर सकता है अन्यथा नहीं।"[21]

प्रतिबद्धता या पक्षधरता

मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना में व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रश्न के साथ ही प्रतिबद्धता या पक्षधरता का सवाल महत्त्वपूर्ण है। आस्था में मार्क्सवादी होने के कारण और साहित्य के वर्गीय आधार को स्वीकारते हुए मुक्तिबोध पक्षधरता पर बल देते हैं। वे लिखते हैं – "विषमतायुक्त समाज में जबकि साहित्यकार भी वर्गों के हिमायती बनकर प्रकट होते हैं तब प्रश्न उठता है कि लेखक किस वर्ग के साथ है? अंतर्विरोधग्रस्त समाज में वह किन प्रवृतियों से तदाकार है?"[22] मुक्तिबोध के लिए यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि 'तय करो किस ओर हो तुम'। यह सवाल उन लोगों से है जो प्रतिबद्धता के प्रश्न पर आनाकानी करते हैं, कन्नी काटते हैं और समझते हैं कि किसी ओर प्रतिबद्ध होकर वे अपनी सौंदर्य–दृष्टि की रक्षा कैसे कर पाएंगे? इस सवाल का उत्तर देते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "हम साहित्यकार जो पीड़ित मध्यवर्गीय श्रेणी से आये हैं, अपना विकल्प सामाजिक प्रगति और मानव–मुक्ति ही चुनते हैं और इस पक्ष में कलाकार के मानव–व्यक्तित्व के हनन, सौंदर्य की उपेक्षा तथा व्यक्ति की अवहेलना नहीं दिखाई देती, क्योकि उसी राह पर हमें सौंदर्य का साक्षात्कार होता है।"[23] मुक्तिबोध इस सवाल को दोषारोपण का नहीं बल्कि अंतरात्मा का प्रश्न मानते हैं क्योंकि कलाकार का संवेदनात्मक उद्देश्य वस्तुतः पक्षधरता के कारण ही होता है। इस विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "हम अपनी अंतरात्मा की पक्षधरता को मजबूत बनाएंगे।"[24]

वस्तु और रूप पर विमर्श

अपने विभिन्न आत्मवक्तव्यात्मक निबंधों में वस्तु और रूप पर मुक्तिबोध ने चिंतन किया है। मुक्तिबोध रचनावली भाग–5 में 'वस्तु और रूप' शीर्षक से उनके चार निबंध प्रकाशित हैं। कहना न होगा कि वस्तुतः वह एक ही लेख के चार रूप हैं। लेकिन इनके सवाल अलग–अलग हैं। रचनावली–पूर्व अप्रकाशित लेख–1 'वस्तु और रूप' में मुक्तिबोध लिखते हैं – "काव्य के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में सोचते हुए, मैं किन्हीं विशेष बातों पर रुक जाता हूँ। 'वस्तु' का क्या अर्थ है? क्या 'वस्तु' से हमारा अभिप्राय काव्य का विषय से है? किंतु विषय स्वयं अपने आपमें काव्य का विषय नहीं होता। उदाहरण के लिए तुलसी का मानस, और बाल्मीकि की रामायण, दोनों का विषय एक होते हुए भी मेरे ख्याल से, दोनों के काव्यगत वस्तुतत्त्व अलग–अलग हो सकते हैं। उषाकाल पर लिखी हुई दो कविताओं के वस्तुतत्त्व अलग–अलग हो सकते हैं। होते हैं। सच तो यह है कि काव्य का वस्तुतत्त्व वह मनस्तत्त्व है जो कि कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है।"[25]

रचनावली–पूर्व अप्रकाशित लेख–2 वस्तु और रूप में मुक्तिबोध लिखते हैं – "काव्य के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में सोचते हुए मेरा मन किन्हीं बातों पर रुक जाता है। पहली बात तो यह है कि क्या काव्य की वस्तु का मेरे हृदय से सीधा सम्बन्ध है? उत्तर है 'हाँ'। किन्तु जब मैं इस 'हाँ' की पड़ताल करने बैठता हूं तो पता चलता है कि उस वस्तु का जो व्यापक अभिप्राय है; उसे मैंने अनुभूत किया है, इसलिए मैंने बड़ी मेहनत से उसे (उस वस्तु को) प्रस्तुत किया है। 'व्यापक अभिप्राय' से मेरा मतलब क्या है? इसका उत्तर देते हुए असंदिग्ध रुप से, मैं बाह्य जीवन–जगत पर आ जाता हूँ।"[26]

रचनावली–पूर्व प्रकाशित लेख–3 वस्तु और रूप में मुक्तिबोध लिखते हैं – "कला के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में विचार करते हुए मेरा मन कुछ बातों पर रुक जाता है। पहली बात तो यह है कि क्या कारण है कि युग–विशेष में कुछ विशेष–विशेष विषयों पर ही कविता लिखी जाती है, कलाकृतियों के विषय ठहरे–ठहराए रहते हैं। मन के भीतर समाए हुए जगत का जो वैविध्य (प्रसार) है; उसका तो प्रकटीकरण हो नहीं पाता, वरन् इसके विपरीत कुछ विशेष विषयों पर कुछ विशेष संवेदनात्मक प्रकारों से दृष्टिपात किया जाता है। और उन विषयों का आलेखन किया जाता है।"[27]

इन तीन उदाहरणों के माध्यम से मुक्तिबोध ने अलग–अलग ढंग से 'वस्तु' के अभिप्राय को समझने का प्रयास किया है। प्रगतिवादी अवधारणा की यह मुख्य बात तो उन्हें स्वीकार है कि वस्तु और रूप में वस्तु महत्त्वपूर्ण है। लेकिन वस्तु का अपना वस्तुगत स्वरूप क्या है; यह सवाल उनके लिए अधिक विचारणीय है। मुक्तिबोध ने वस्तु और विषय के अंतर को स्पष्टता से पहचानने का आग्रह किया है। कोई भी विषय अलग–अलग रचनाकारों के लिए एक जैसा महत्त्व नहीं रखता। विभिन्न रचनाकार अपनी–अपनी विश्व दृष्टियों और अलग–अलग जीवनानुभवों से उस विषय को अपनी वस्तु बनाते हैं। अपने दूसरे उद्धरण में मुक्तिबोध स्पष्ट करते हैं कि वस्तु का सम्बन्ध सर्जक के हृदय से है अर्थात् संवेदनात्मक दृश्य उद्देश्यों से है। तीसरे और अंतिम उद्धरण में वे विषय के विस्तार को युग के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

काव्य कला : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया

मुक्तिबोध की कला विषयक धारणाओं, कला सृजन प्रक्रिया और कलाकार की रचना–प्रक्रिया सम्बन्धी उनके विश्लेषणों, उदाहरणस्वरूप स्वयं उनकी कविताओं और उनके समग्र काव्य–चिंतन से पता चलता है कि वह कविता की व्याख्या उसके विकासमान सामाजिक वस्तु मानकर करते हैं। ऐसी वस्तु जिसका सृजन वैयक्तिक प्रयास का परिणाम होते हुए भी, मूलतः सामाजिक और सांस्कृतिक भूमियों पर टिका होता है।

काव्यकला मुक्तिबोध के लिए एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। वे लिखते हैं – "काव्य–रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं।"[28] काव्य–कला को एक सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया मानने के पीछे मुक्तिबोध की आर्थिक मूलाधार और सांस्कृतिक बाह्य ढांचे के अंतः सम्बन्धों की समझ है। मुक्तिबोध कला साहित्य का सम्बन्ध जीवन से मानते हैं। नयी कविता की परिभाषा में यह स्पष्ट दिखता है। वे लिखते हैं – "नयी कविता वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है।"[29]

आभ्यंतरीकरण और बाह्यकरण

काव्य जीवन की पुनर्रचना है। यह मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना का सूत्र वाक्य है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं – "आज ऐसे कवि चरित्र की आवश्यकता है, जो मानवीय

वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करें, उनके संचित जीवन–विवेक को स्वयं ग्रहण करे और अधिक निखार कर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज उन्हें लौटा दे।"[30] इसी को स्पष्ट करने के लिए मुक्तिबोध ने आभ्यंतरीकरण और बाह्यीकरण दो शब्दों का चुनाव किया। उनके अनुसार साहित्य एक कला है। और कला आभ्यंतर के बाह्यीकरण का एक रूप है। यह चक्रवत गतिमान रहता है। आभ्यंतरीकरण और बाह्यीकरण का व्यापार वास्तव में एक दूसरे से संबद्ध क्रिया–प्रतिक्रिया का व्यापार है। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तहत कार्य करता है।

3.3 मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना

(क) भक्तिकाव्य

मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना, हिन्दी आलोचना में मील का पत्थर कही जा सकती है। इन्होंने भक्तिकाल, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता पर ठोस व्यावहारिक आलोचनाएं लिखी हैं। गौरतबल है कि इन सभी प्रवृत्तियों पर मुक्तिबोध के पूर्ववर्ती आलोचकों ने विचार कर लिया था, लेकिन इन्होंने अपनी आलोचना दृष्टि से उन पर पुनर्विचार करना आवश्यक समझा। इस खण्ड में मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचनाओं का कालक्रमिक अध्ययन किया जाएगा।

'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू 'भक्तिकाल पर लिखा गया मुक्तिबोध का यह इकलौता लेख है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन, 1955 में 'नई दिशा' पत्रिका में हुआ था। बाद में 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में इसे संकलित किया गया। उल्लेखनीय है कि भक्तिकाल पर मुक्तिबोध से पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा आदि ने विचार किया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो भक्तिकालीन कवियों की प्राथमिकता की सूची भी बनायी जिसमें तुलसीदास आगे थे। कुछ उसी तरह के रामविलास शर्मा के भी विचार थे।

'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' में मुक्तिबोध ने यह दिखाया कि किस प्रकार सामंती उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष करने वाले योद्धा बाद में खुद सामंत बन बैठे। सामंती जकड़ जो भक्ति आंदोलन के बीच कुछ कमजोर पड़ गयी–सी लगती थी बाद में मजबूत हो गई। परिणामस्वरूप यह हुआ कि धीरे–धीरे भक्ति आंदोलन की प्राणधारा कमजोर होती गई और परिणामस्वरूप रीतिकाल का आगमन हुआ। मुक्तिबोध ने इस लेख में अपने आलोचना सूत्र की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं – "किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि किन मनोवैज्ञानिक–सामाजिक शक्तियों से वह उत्पन्न है; अर्थात् वह किन–किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है; किन सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अंतःस्वरूप क्या है? ... तीसरे उसके प्रभाव क्या हैं किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरूपयोग किया और क्यों? साधारण जनों के किन मानसिक तत्त्वों को उसने विकसित या नष्ट किया।"[12] जब मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के कमजोर होने के बाद रीतिकाल के उदय को बताया तो इसका मूल्यांकन करते

हुए नामवर सिंह लिखते हैं – "इस विवेचन से भक्तिकाल के बाद रीतिकाल के उदय का कारण स्पष्ट हो जाता है। यदि आरंभ के शास्त्र–निरपेक्ष निर्गुण काव्य की शास्त्र–सापेक्ष सगुण परिणति की ओर ध्यान दें तो शास्त्रीयतावाद के पुनरूत्थान के रूप में रीतिकाल के प्रसार की भी संगति लग जाती है।"[13]

'मध्यकालीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' में मुक्तिबोध ने निर्गुण–सगुण के परिप्रेक्ष्य में विचार किया है, लेकिन उसके केन्द्र में कबीर और तुलसी ही हैं। इस लेख में तुलसी पर विशेष दृष्टि है। वे लिखते हैं "तुलसीदास के सम्बन्ध में ऐसे सवाल करना और भी जरूरी है; क्योंकि कट्टरपंथियों ने अपने उद्देश्य के अनुसार तुलसीदास का उपयोग किया जिस प्रकार आज जनसंघ और हिंदू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया। सुधारवादियों की तथा आज की भी एक पीढ़ी को तुलसीदास के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा, यह भी एक बड़ा तथ्य है।"[14] मुक्तिबोध का यह गंभीर सवाल है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि तुलसीदास का निहित स्वार्थों के लिए दुरूपयोग किया गया या उन्हें गलत तरीके से लोगों के सामने पेश किया गया? या उनकी रचनाओं के अनुकूल अंश को ही कट्टरपंथियों ने ग्रहण किया। कहना गलत नहीं होगा कि परंपरा अपने आप नहीं मिल जाती, उसे प्राप्त करना प्रतिक्रिया के हाथों छीनना पड़ता है। तुलसीदास के सम्बन्ध में भी प्रगतिवादियों को यही करना पड़ा। यही नहीं प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दबाव में ऐसे तत्त्वों की अनदेखी करनी पड़ी जो वस्तुतः जनवादी नहीं थे।

मुक्तिबोध ने तुलसीदास के सम्बन्ध में सवाल किया है कि गोस्वामी जी की रचनाशीलता किन सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों से उद्भूत है। इसका अंतःस्वरूप क्या है, उसका प्रभाव क्या रहा है कि सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरूपयोग किया? तुलसीदास की भूमिका को निर्गुण संतों की तुलना में पिछड़ी हुई मानने का कारण यह नहीं है कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने उनका दुरूपयोग किया। यही बात कामायनी के बारे में भी सहीं है। अगर ऐसा होता तो वे शिवाजी को किसानों का नेता न कहते। मुक्तिबोध लिखते हैं – "गरीब उद्धत किसानों और अन्य जनता को अपना एक और संत रामदास मिला तथा एक नेता प्राप्त हुआ शिवाजी।"[15]

यहाँ बात मुक्तिबोध द्वारा किये गए शिवाजी के मूल्यांकन से सहमत–असहमत होने की नहीं, केवल यह देखने की है कि परंपरा के किसी अंश को वे इसीलिए सुधारवादी या

प्रतिक्रियावादी नहीं मान लेते, क्योंकि प्रतिक्रियावादियों ने ऐसी ही व्याख्या कर दी, उसका वैसा ही प्रयोग किया। सगुण धारा को निर्गुण धारा की तुलना में सुधारवादी मानने के मुक्तिबोध के पास वस्तुगत ऐतिहासिक कारण हैं जैसा कि उन्होंने लिखा है – "क्या एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं कि कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद् नहीं कर सका। ... क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति आंदोलन के प्रधान हिन्दी क्षेत्र के अंतिम कवि थे।

जब मुक्तिबोध तुलसीदास को वर्णाश्रमी सुधारवादी कहते हैं, तो उसके वस्तुनिष्ठ कारणों का उद्धरण देते हैं, जो उनकी रचना में निहित है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "एक बार भक्ति आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर न थी। यह घोषणा तुलसीदास ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रांतिकारी संदेश था। कृष्णभक्ति में वह बिल्कुल कम हो गया फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने उसको अपना दायरा बतला दिया। निर्गुणमतवाद के जनोन्मुखी रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवादी विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराणमतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।"[17]

इससे स्पष्ट होता है कि तुलसीदास की रचना में कुछ ऐसे तत्त्व थे, जिनका कट्टरपंथियों ने बढ़ा–चढ़ाकर दुरुपयोग किया। क्या कारण है कि वे कबीर का दुरुपयोग नहीं कर पाये? कबीर की रचनाओं में वे ऐसे अंश की खोज क्यों न कर सके जिससे कबीर से उनका हित सधता। क्या कारण है कि निम्न जाति के किसान–कारीगर जनता के अपने कबीर हैं तुलसीदास नहीं? ऐसा क्यों हुआ कि ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी तीन सौ वर्षों तक छिपी रही? इस तर्क से मुक्तिबोध की स्थापना पर कोई फर्क नहीं पड़ता कि कबीर के गुरू रामानंद सगुण भक्त थे और तुलसीदास के बाद प्रधान संत मलूकदास हुए, या तुलसीदास के समकालीन केशवदास थे। क्योंकि प्रश्न प्राणधारा का है न कि एकाध छिट–पुट कवियों का। तुलसीदास के काव्य जैसी कृषक जीवन की समग्रता, भक्ति आंदोलन के किसी कवि में न हो, यह संभव है। इसी प्रकार वे भक्तिकाल के सबसे बड़े कवि हैं। यह भी सत्य है, किन्तु जहाँ तक जातिवाद

और धार्मिक वाह्य आडम्बर विरोधी प्रखर चेतना का प्रश्न है तो वे कबीर से बहुत पीछे हैं और शायद यही कारण है कि वाद के कट्टरपंथियों ने उन्हें बहुत जल्दी हज़्म कर लिया लेकिन कबीर को हज़म नहीं कर पाए।

वस्तुतः भारतीय सामंतवाद की रक्षक जातिवादी विचारधारा थी, जो जातिवाद को सुसंगत रूप से चुनौती नहीं दे सकता, यह आदर्श वर्णव्यवस्था वाले रामराज्य की शरण में जाने को अभिशप्त है। यह सत्य है कि तुलसीदास की रचनाशीलता अपनी इस विचारधारा की हमेशा समर्थन ही नहीं करती, कहीं कहीं इससे छिटक पड़ती है।

सन् 1950–51 में मुक्तिबोध एक लेख में लिखते हैं – "... जो तत्कालीन मानव सम्बन्ध हैं, उनको कहीं भी भंग न करते हुए राम ने निषाद और गुहा से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाये, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यों को गले लगाया ... तत्कालीन मानव–सम्बन्धों का वास्तविक निर्वाह उन्होंने आदर्श गुणों में किया।"[18]

तुलसीदास बड़े कवि हैं, कलात्मक दृष्टि से भी श्रेष्ठ हैं, लेकिन वैचारिकता में कबीर से पीछे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कला और विचार धारा के बीच सीधे सम्बन्ध नहीं, इसीलिए किसी रचनाकार का मूल्यांकन करते समय भावबोध, इंद्रियबोध और विचारधारा इन सब पर ध्यान देना चाहिए, न कि सुविधानुसार किसी एक पर। ऐसा करने पर न तो असुविधाजनक स्थितियों का क्षेपक (प्रमुख) मानकर खारिज करने की आवश्यकता पड़ेगी और नहीं गौण मानकर उपेक्षणीय। इस प्रकार अतीत की दूरी और रचना के अपने अन्तर्विरोधों को ख़त्म किये बगैर पाठक में एक आलोचनात्मक विवेक जाग्रत करके भी तुलसी या किसी रचनाकार को समझा जा सकता है।

वस्तुतः जैसा कि मुक्तिबोध ने ईसाई आदि धर्मों के प्रसंग में यह दिखाया है कि इन धर्मों को चलाने वालों में शुरू में गरीबों के ही दुख–दर्द को वाणी दी थी, किंतु बाद में शासक वर्गों में इन बातों को अपने पक्ष में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और उनकी क्रांतिकारी भूमिका समाप्त कर दी। यही हाल भक्ति आंदोलन का भी हुआ। कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति आंदोलन एक समय बाद समाप्त हो गया और साथ ही उसकी जनवादी भूमिका भी। अगर हम यह मानने की ईमानदारी दिखाते हैं तो यह भी बताना पड़ेगा कि यह

कैसे हुआ? और शायद यह बताने के लिए उसी मार्ग से जाना होगा जो निर्गुण–सगुण धारा की भूमिका में भेद करते हुए मुक्तिबोध ने दिखाया।

(ख) छायावाद

छायावाद पर मुक्तिबोध के लेखन का प्रारंभ 'आधुनिक हिंदी कविता में यथार्थ' निबंध से होती है जिसका प्रकाशन 1941 में हुआ था। बाद में इसका संकलन 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में हुआ। इस लेख में मुक्तिबोध ने बच्चन की 'निशा–निमंत्रण' को महादेवी की रचनाओं से श्रेष्ठ माना था। किंतु 1948–49 में मुक्तिबोध द्वारा लिखे गये निबंध 'साहित्य में पौराणिक–ऐतिहासिक संदर्भ' में छायावाद के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद के बारे में उनके विचार द्रष्टव्य है – "प्रसाद की कतिपय कविताओं से उनका विशेषत्वीकरण करना अपराध होगा। यदि उनके पूरे साहित्य को देखा जाय (जो हमारे विषय के बाहर हैं) तो हम पायेंगे कि नियतिवाद, पलायनवाद आदि दोष अपने कण रूप में ही उनमें उपस्थित हैं। उन दोषों के सबल कारण हैं जिनका विवेचन आगे किया जा सकता है। परन्तु उनके संपूर्ण साहित्य की प्रधान विशेषताओं में से वह नहीं है जिसने मात्र इन दो दोषों को उनकी प्रधान विशेषताएं माना है। उसने प्रसाद, उनकी प्रेरणा, उनकी शक्ति और उसकी सीमा को नहीं पहचाना।"[19]

'छायावाद और नयी कविता' 1955–56 में प्रकाशित हुआ। यह 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में संकलित है। यह लेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि सन 1941 में छायावाद के विषय में जो बातें मुक्तिबोध ने व्यक्ति की हैसियत से खुद कही थी, अब वे नयी कविता वाले छायावाद के बारे में सन् 1939 के आस–पास क्या प्रतिक्रिया कर रहे थे। इस रूप में सामने आती है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "वे नयी कविता वाले लेख सन् 1939 से ही छायावादी आदर्श भूमि को वैचारिक दृष्टि से त्याग रहे थे। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण विरोध सिर्फ एक बात को लेकर था और वह यह कि छायावाद ने अर्थभूमि को संकुचित कर दिया है। सौंदर्य, दुख, कष्ट, लक्ष्य, आदर्श, क्रोध, क्षोभ का चित्रण जो छायावाद में हुआ। यह वास्तविक मनोदशाओं का नहीं वरन् कल्पित दुख, कष्ट, क्रोध, क्षोभ आदि का है। छायावादी मनोदशा वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करती। ... वह जीवन जो जिया जाता है ... उसकी करुणा वास्तविक करुणा नहीं है। छायावादी मनोभावों में रंगीनी इसलिए है कि उसमें जिंदगी, जैसी कि वह जो जाती है की असलियत लापता है। यही है वह मूल प्रतिक्रिया जो नयी कविता ने

उन दिनों छायावाद के विरुद्ध की थी। ... छायावाद में करुणा का विलास है उसकी तकलीफ़ नहीं।"[20]

लगभग यही बात मुक्तिबोध ने अपने दूसरे लेख 'हिंदी काव्य की नयी धारा' में दोहरायी है। यह लेख 1955–1957 के बीच प्रकाशित हुआ था। सन् 1958 में शमशेर पर लिखे गए एक लेख 'शमशेरः मेरी दृष्टि में' छायावाद पर मुक्तिबोध की एक टिप्पणी है। शमशेर की कविता को विशिष्ट भाव प्रसंग की कविता बताने के क्रम में मुक्तिबोध हिंदी की आत्मपरक रोमांटिक कविता की खबर लेते हैं। वे लिखते हैं कि "कविता, विशेषकर आत्मपरक कविता, ने हिंदी साहित्य–चिंतन धारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिंदी की आत्मपरक कविता व्यक्तिनिष्ट भले ही हो, उसमें वास्तविक भाव प्रसंगों की मौलिकता विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया। यही कारण है कि आधुनिक हिंदी काव्य में वास्तविक प्रणय भावना बहुत थोड़ी जगह और अल्पमात्रा में है। प्रणय–जीवन के वास्तविक मनौवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है। प्रणय–जीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं। ... वास्तविक प्रणय–जीवन काव्य का 'ह्युर्मेनाइजिंग इफेक्ट' हमें आधुनिक रोमांटिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।"[21]

जो बात इसके पूर्व के दो लेखों में मुक्तिबोध ने नयी कविता वालों से कहलवायी थी, वही बात खुद कह रहे हैं किन्तु इस कथन को दो तरह से देखना चाहिए। एक तो यह कि छायावाद की लाठी से नयी कविता को पीटने की प्रतिक्रिया में यह कथन है। दूसरा, यह कि शमशेर के काव्य वैशिष्टय को रेखांकित करने की झोंक में छायावाद का सरलीकरण कर दिया गया है। मुक्तिबोध से इस सरलीकरण से हमें भले ही असहमत हों लेकिन उसमें सच्चाई का एक अंश तो है ही।

(ग) पंत का मूल्यांकन

जयशंकर प्रसाद के बाद छायावाद के दूसरे प्रसिद्ध कवि सुमित्रानंदन पंत पर मुक्तिबोध ने लिखा। जो कि कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण लेख है। यह लेख 'सुमित्रानंदन पंत' नाम से है जिसका प्रकाशन 1960 में हुआ। इस लेख में मुक्तिबोध की आलोचना प्रक्रिया का सम्यक् निदर्शन होता है। छायावाद पर यहाँ पहले जैसा तीखे हमले नहीं किये गये हैं। इससे

स्पष्ट होता है कि जब मुक्तिबोध किसी कवि की चर्चा करते हैं तब वे संयत रहते हैं लेकिन जब सिद्धांत विशेष पर बात करते हैं तब आक्रामक। यही छायावाद के साथ भी हुआ। उसके प्रति मुक्तिबोध तीखे हो गए। इस कारण का यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय छायावाद को लेकर की जा रही 'राजनीति' का प्रभाव मुक्तिबोध पर पड़ा। जो भी हो, पंत पर लिखा गया 'सुमित्रानंदन पंत' महत्त्वपूर्ण लेख है।

विशिष्ट या ठोस से सामान्यीकरण की ओर बढ़ने की अपनी शैली के अनुसार मुक्तिबोध पंत का मूल्यांकन करते हैं। वे लिखते हैं "पंत जी में वास्तव के प्रति विशेष उन्मुखता रही आयी। प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें केवल उपमाएँ और रूपक ही नहीं देता रहा, वह पूरे रूपाकार के साथ उनके सम्मुख उपस्थित होता आया। उनके यौवनोन्मेषकाल में प्राकृतिक सौन्दर्य उनके लिए एक वातावरण स्थिति और परिस्थिति लेकर आया। निःसंदेह, पंत जी में कोमल संवेदनाओं से आप्लुत एक विशेष प्रकार की अंतर्मुखता थी। शायद, वह कल्पना–वृत्ति कोमल और आत्यन्तिक तीव्रता के कारण रही हो, अथवा बाह्य से संवेदनाएं प्राप्त कर, फिर उन्हें मात्र मनोमय बनाकर उनमें लीन रहने की वृत्ति के कारण रही हो–कहा नहीं जा सकता। किंतु यह सत्य है कि संवेदनाओं के मूल बाह्य स्रोतों के प्रति वे उन्मुख थे।"[22]

इसी लेख में पंत और प्रसाद की तुलना करके मुक्तिबोध ने अपने तुलनात्मक आलोचना का परिचय दिया है। वे लिखते हैं "मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रसाद जी जिस अर्थ में अन्तर्मुख कवि हैं, उस अर्थ में पंत नहीं। ... अथवा उनकी अंतर्मुखता बहुत क्षीण है। पंत जी न केवल अपने भावों को सरल रूप में देखते हैं, बल्कि उसकी मात्रा भी बहुत कम होती है और साथ ही उनका आवेग भी। पंत जी के काव्य में हमें संयम–असयंम दिखायी नहीं देता। हाँ कहीं कहीं कल्पना का अतिरेकपूर्ण आवेग हमें अवश्य प्राप्त होता है। ... प्रसाद जी ने कभी स्वर नहीं साधा। स्वर द्वारा मनःस्थिति अन्यों में संक्रमित होती है। अंतर्मन के गहन भाव–दृश्यों में उलझने की क्षमता और फुर्सत हर एक में नहीं होती। पाठक, भाव दृश्यों का विशेष पंडित नहीं होना चाहता। पंत उसे सहज रूप से विश्लेषित और संश्लेषित भाव दृश्य नहीं देते, वरन् मनःस्थिति और मनोदशाएँ प्रदान करते हैं। वह उनसे अभिभूत हो जाता है। पंत जी की लोकप्रियता का यही रहस्य है।"[23]

इसी लेख में मुक्तिबोध ने पंत का मूल्यांकन करते हुए स्पष्ट किया कि पंत ने अपने काव्य का विषय क्षेत्र विस्तृत किया। ऐसे प्रयोगों में कवि का साहस और आगे बढ़ने की क्षमता की जानकारी मिलती है। लेकिन मुक्तिबोध संकेत करते हैं कि इसके बावजूद पंत नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए नयी शब्द संपदा शैली का विकास नहीं कर पाते। अभिव्यक्ति के उसी पुराने ढर्रे पर आ जाते हैं और 'कंडीशन्ड साहित्यिक रिफ्लेक्स' नियम के अनुसार नयी अन्तर्वस्तु अपना रूपाकार ग्रहण नहीं कर पाती।

इस लेख में आगे मुक्तिबोध ने सुमित्रानंदन पंत की ज्ञानपीठ पुरस्कृत रचना 'चिदम्बरा' का मूल्यांकन किया है। वे लिखते हैं– "यह प्रतीत होता है कि मनःस्थिति व्यंजक कविताओं में भी भावों की केवल रूपरेखा उपस्थिति करने के बजाय कुछ और चाहिए। केवल निवेदनात्मक शैली से काम नहीं चलने का। चिदम्बरा में एक मजेदार बात और हुई। भाव कई स्थानों पर मात्र एक दृष्टि, एक रूख, एक झुकाव को प्रकट करने लगे। भावों से सम्बन्ध जो चित्रावली बहुत पहले चली आयी, वह थोड़े हेरफेर के साथ केवल झुकाव प्रकट करने लगी। फलतः पंत का बहुत सा काव्य झुकाव का काव्य बनकर रह गया है।"[24]

चिदम्बरा के मूल्यांकन के दौरान मुक्तिबोध दुबारा प्रसाद और पंत के व्यक्तित्व की भिन्नता को रेखांकित करते हैं। मुक्तिबोध यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि व्यक्तित्त्व की भिन्नता रचना और रचना–प्रक्रिया की भूमिका को कैसे प्रभावित करती है जबकि दोनों ही रचनाकार एक ही युग संदर्भ में लिख रहे थे। मुक्तिबोध लिखते हैं – "प्रसाद जी, एक अन्वेषण के रूप में, अपने ही उलझे मनोभावों के बाह्य संदर्भों को खोजते हुए, जीवन जगत में उलझाव का अध्ययन करते, चिंतन द्वारा बाह्य विश्लेषण और आत्म विश्लेषण करते। ... इसीलिए प्रसाद जी की काव्याभिव्यक्ति उलझी हुइ सी लगती थी। इसके विपरीत, पंत जी पर अपने निज का इतना जबरदस्त बोझ नहीं रहा। फलतः वास्तव से उद्‌भूत संवेदनाएँ और वास्तव के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएं अधिक सरल और सीधी थीं।"[25]

'ग्राम्या' के विवचेन के प्रसंग में मुक्तिबोध लिखते हैं "रूपकों और अन्य कल्पना चित्रों के प्रयोग के बावजूद, हमें यह कहना ही पड़ेगा कि काव्य में थीसिस लिखना अथवा थीसिस में काव्य लिखना पंत जी के बस की बात नहीं है।"[26]

(घ) कामायनी : एक पुनर्विचार, एक मूल्यांकन

'कामायनी' का मूल्यांकन हिंदी आलोचना के केन्द्र में रहा है। इसका मूल्यांकन आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध और रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि आलोचकों ने किया। लेकिन इस शोध के संदर्भ में हम अपना विवेचन मार्क्सवादी आलोचकों तक सीमित रखेंगे। रामविलास शर्मा, 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' में लिखते हैं – "प्रसाद जी ने एक खास तरह के ज्ञान, एक खास तरह के कर्म का विरोध किया है। वह ज्ञान और कर्म का समन्वय चाहते हैं और यह समन्वय लोक कल्याण की भूमि पर होता है।"[27] रामविलास शर्मा ने लिखा है कि प्रसाद की शैली में बड़ी सादगी है। मुक्तिबोध के अनुसार "वह फैंटेसीमूलक है, जिसमें भाव पक्ष प्रधान है, विभाव पक्ष गौण ... भाव सीधे–सीधे नहीं व्यक्त हुआ है।"[28]

कामायनी ऐसी रचना न थी जिसे नज़रअंदाज किया जा सकता था। मुक्तिबोध लिखते हैं – "प्रसाद जी की 'कामायनी' रसवादी, छायावादी, पुराणपंथियों के हाथ में नवीन प्रगतिशील शक्तियों के विरुद्ध एक अस्त्र बन गयी। भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से आगे बढ़कर कामायनी का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया, और उसके उपयोगी तत्त्वों को प्रछन्न कर दिया। उन्होंने कामायनी के सम्बन्ध में हर तरह के ऊँचे किस्म की गलत फहमियाँ फैलाई।"[29] इस संदर्भ में मुक्तिबोध ने आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचकों को याद किया है।

इस प्रकार कामायनी के मूल्यांकन को लेकर लगभग दो छोर बनते दीखते हैं। एक है पुराण पंथियों का, और दूसरा ऐसे मार्क्सवादियों का जो प्रसाद जी के यहाँ ज्ञान और कर्म का समन्वय लोक–कल्याण की भूमि पर देख रहे थे, उनके दार्शनिक विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह बतला रहे थे कि वे धरती को छोड़कर कल्पना के आकाश में उड़ान नहीं भरते और अंततः उन्हें वर्गहीन साम्यवाद व्यवस्था का समर्थक पोषित कर रहे थे।

मुक्तिबोध ने मनु के चरित्र में निहित असंगतियों और उसके प्रगति–विरोधी स्वरूप को स्पष्ट तो किया ही, साथ ही यह दिखलाने की कोशिश की कि प्रसाद जी के सामंजस्य सिद्धांत का स्वरूप क्या है? इसी प्रकार उन्होंने श्रद्धावाद की वास्तविक परिणति भी रेखांकित कर दी।

मुक्तिबोध लिखते हैं कि "श्रद्धावाद यह उद्‌घाटित करता है कि भाववाद–आदर्शवाद अंततः किस प्रकार प्रस्तुत पूंजीवादी विषमताओं के लिए क्षमाप्रार्थी होकर उसे नसीहत देता है। उन्हीं से समझौता कर लेता है। वह वस्तुतः अपने अन्तर्विरोधों से ग्रस्त पूंजीवाद का डिफेंस है और कुछ नहीं।"[30] निष्कर्ष यह है कि "प्रसाद की आत्मा ने भोगा वास्तविक जीवन, खोज की वास्तविक जीवन की, चिंतन किया वास्तविक जीवन का, किंतु निष्कर्ष रूप में, निदान और समाधान के रूप में पाया क्या? आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक भाववादी रहस्यवाद! यह ऐतिहासिक सामाजिक समस्याओं का ऐतिहासिक सामाजिक हल नहीं हुआ?"[31] परिणामस्वरूप प्रसाद जी प्रगाढ़ जीवनानुभव से अपनी रचनाशीलता रचना के सहज तर्क के सहारे जिस सीमा तक उनके दार्शनिक आग्रहों से बच नहीं सकी, यह उनकी उपलब्धि है। लेकिन जिस हद तक दर्शन उनकी रचनाशीलता पर हावी हो गया, वही उनकी सीमा है।

मुक्तिबोध के विवचेन के सार को अपने शब्दों में संक्षिप्त करते हुए आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं – "प्रसाद जी को आधुनिक पूंजीवादी भारतीय समाज–व्यवस्था की वास्तविकता का बोध था। उसकी विकृत्तियों और समस्याओं का ज्ञान था। उनसे जुड़े प्रश्नों की पहचान थी, लेकिन यह सब सहज भावना और विवेक के कारण संभव हुआ था, किसी वैज्ञानिक विश्वदृष्टि के कारण नहीं, इसीलिए इनका समाधान नितांत काल्पनिक, आध्यात्मिक और रहस्यवादी रूप में सामने आया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यथार्थबोध सच्चा जीवन मूल्य भ्रामक और विश्वदृष्टि गलत नहीं कामायनी की रचनादृष्टि की ट्रेजडी है। क्या टी.एस. इलियट की रचना 'वेस्टलैण्ड' लगभग ऐसी ही ट्रेजड़ी का शिकार नहीं हुई है।"[32]

कामायनी के द्वन्द्व को ऐतिहासिक भौतिकवाद मान बैठने का या वर्गवैषम्य वगैरह के प्रसंगों में समाजवाद का अनुसरण करने वालों के लिए यह समीक्षा थोड़ी खटकती है। लगता है कि इसमें कामायनी की निंदा ही निंदा है, और कुछ नहीं। लेकिन मुक्तिबोध लिखते हैं – "वर्गभेद का विरोध और उसकी भर्त्सना, अहंकार की निंदा यह प्रसाद जी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है। शासक वर्ग की जन–विरोधी आतंकवादी, नीतियों की तीव्र भर्त्सना ... यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है।"[33] 'इड़ा' सर्ग की शापवाणी के बारे में मुक्तिबोध का विचार है कि "यह शापवाणी 1952 की वास्तविकताओं को भी चित्रित करती है–सिवाय एक बात के। नयी ऐतिहासिक शक्ति संपन्न, विकासमान श्रमिक वर्गों की बल वृद्धि और आत्मविश्वासमयी क्रांतिकारी प्रवृति

वे देख न सके।"[34] संक्षेप में इस फैंटेसी 'कामायनी' के रूपाकार में सामंतवाद के ध्वंस से लगाकर, नये व्यक्तिवाद के जन्म और पूंजीवाद के रूग्ण बालक से लगातार, नये व्यक्तिवाद की अवस्थाओं और चिंताओं, विषमताओं और विभेद तथा पूंजीवाद की संपूर्ण ह्रासमान अवस्था तक को प्रतीकात्मक पद्धति से गूंथ दिया गया। कामायनी भारतीय औपनिवेशिक रूग्ण बाधाग्रस्त पूंजीवाद की कथा, उसके आक्रामक उग्र अहंग्रस्त व्यक्तिवाद का प्रतीकात्मक चित्र है। ह्रासग्रस्त विश्वपूंजीवाद के भीतर भारतीय औपनिवेशिक रूग्ण पूंजीवाद के सामंती प्रभाव–छायाग्रस्त उग्र व्यक्तिवाद का, कामायनी एक आत्म चरित्र कही जा सकती है। कामायनी की महत्ता यही हैं कि प्रसाद जी उसे कर सके, चाहे हम उनके मतों से तकनीक से, दर्शन से समहत हों या न हों।

इससे स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध ने कामायनी की केवल निंदा ही नहीं की। मुक्तिबोध के अनुसार "कामायनी का दोष यह है कि जीवन समस्याएं जिस स्वर और क्षेत्र की है, उस स्वर और उस क्षेत्र का उसका दार्शनिक समाधान नहीं है।"[35]

मुक्तिबोध की कामायनी सम्बन्धी समीक्षा को लेकर समीक्षकों ने सवाल भी उठाये हैं। रामविलास शर्मा लिखते हैं – "वास्तव में जयशंकर प्रसाद और कामायनी के प्रति मुक्तिबोध के मन में द्वैत भाव है और यह द्वैत भाव उनकी मनोरचना की जड़ में है, क्योंकि कामायनी के दर्शन को उन्होंने प्रतिक्रियावादी कहा और उसे निर्दोष भी बताया।"[36] आगे रामविलास शर्मा लिखते हैं – "कामायनी : एक पुनर्विचार मुक्तिबोध का अंतिम दस्तावेज़ नहीं है। अंतिम दस्तावेज़ है – 1964 में 'उर्वशी–विवाद' प्रसंग में लिखी गयी टिप्पणी। टिप्पणी इस प्रकार है – "उस दर्शन में, उस दर्शन के चित्रण में कोई दोष नहीं है। उसमें आडम्बर नहीं है, उसमें दार्शनिक दंभ नहीं है। ...संक्षेप में प्रसाद जी की दार्शनिक अनुभूति उनकी भावना के नेत्र हैं।"[38]

सही मायने में इस पूरे वक्तव्य को प्रसंग से काटकर नहीं समझा जा सकता है। गौरतलब है कि मुक्तिबोध ने भगवतशरण उपाध्याय द्वारा दर्शन और काव्य के विषय में प्रकट की गयी मान्यताओं को विरोध किया था और लिखा कि – "वे मान्यताएँ गलत हैं क्योंकि वे दर्शन और कला उन दोनों का परस्पर पृथक् परस्पर असंपृक्त श्रेणियों में बांटकर चलती है और इन दोनों के बीच पारस्परिक प्रभाव के तथ्य को दृष्टि से ओझल करती है।"[38]

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध ने कामायनी के दर्शन और प्रसाद की ईमानदार कोशिश की तारीफ इस सापेक्ष प्रसंग में की है। कामायनी के बारे में उनके द्वारा प्रकट किये गये विचारों में वैसी असंगति नहीं जैसा कुछ लोग समझते हैं। विसंगति लेखन शैली में अवश्य है, इसलिए मुक्तिबोध पर विचार करते समय पूरे संदर्भ को ध्यान में रखे बिना न्याय नहीं किया जा सकता।

(ङ) प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता

(i) प्रगतिवाद

मुक्तिबोध सन 1942 के आस–पास मार्क्सवाद के प्रभाव में आये। मार्क्सवाद से उनका जुड़ाव बहुत ही आत्मिक और भावनात्मक स्तर का था। इसका प्रभाव उनके कई पत्रों में देखा जा सकता है। सन् 1942 में मार्क्सवाद के प्रभाव में आने के बाद उन्होंने 'प्रगतिवाद : एक दृष्टि' नाम से एक लेख लिखा था। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 'आगामी कल' मई 1942 में हुआ। बाद में इसका संकलन मुक्तिबोध रचनावली–2 में हुआ। अब इसे खण्ड–4 में संकलित किया गया है। इस लेख का ऐतिहासिक महत्त्व है। यह आलोचना के क्षेत्र में संभवतः पहला लेख होगा जिसमें प्रगतिवाद के महत्त्व को सीधे सीधे रेखांकित किया गया है।

मुक्तिबोध लिखते हैं "जीवन की दृष्टि से प्रगतिवाद आज तक की सबसे ऊँची मंजिल है, और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें जीवन को अधिक मूर्त रूप में ग्रहण किया है।"[39] इसी लेख में मुक्तिबोध लिखते हैं "प्रगतिवादी एक निश्चित दार्शनिक ऐटीट्यूड उत्पन्न करता है जो न 'स्व' से अधिक 'बाह्य' को, और न 'बाह्य' से अधिक 'स्व' को महत्त्व देता है। वह कहता है कि इन दोनों की परस्पर क्रिया–प्रक्रिया से विकास होता आर रहा है।"[40] गौरतलब है कि मार्क्सवाद पदार्थ और चेतना दोनों को महत्त्व देता है, लेकिन उसकी नज़र में पदार्थ की स्थिति प्राथमिक है औ चेतना की द्वितीयक । मुक्तिबोध का यह विचार तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

'प्रगतिशीलता और मानव सत्य' इस लेख को मुक्तिबोध ने 1955 में लिखा था। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 'नयी दिशा' में हुआ था। बाद में मुक्तिबोध रचनावली–चार में संकलन हुआ। मुक्तिबोध ने इस लेख में प्रगतिशील साहित्य के सामने मौजूद दो प्रकार की चुनौतियों का उल्लेख किया है। पहली तो यह कि प्रगतिशील साहित्य को आगे बढ़ने के लिए पुराणपंथियों

से संघर्ष करना पड़ेगा। पुराणपंथियों से उनका मतलब था 'उन सभी सज्जनों से है जिनका सौजन्य सामान्य जन की बौद्धिक सामाजिक राजनैतिक मुक्ति के आड़े आता है।"[41] प्रगतिशील साहित्य के समक्ष दूसरी चुनौती ऐसी प्रगतिशील आलोचक–नेताओं की ओर से आती है, जिसका वर्गाधार उच्चमध्यवर्गीय है। ये ऐस लोग हैं जिनकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया में कोई सामंजस्य नहीं है। मुक्तिबोध लिखते हैं कि "थियरी मन–वचन–कर्म के सामंजस्य अथवा व्यक्तित्त्व की संगति की बात करना सहज भी है और आवश्यक भी है। किंतु उसी थियरी को दूसरों पर लागू करते वक्त कितनी मर्मज्ञ विश्लेषण शक्ति और ज्ञान–श्रम संवेदन बुद्धि की आवश्यकता है, कितनी सहानुभूति क्षमता की जरूरत है, यह किसी से छिपा नहीं है।"[42]

'मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य पक्ष' नाम से लेख लिखा। जिसका प्रकाशन 1960 में 'वसुधा' पत्रिका में हुआ। बाद में इसका संकलन 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में हुआ। इस लेख का महत्त्व इस मामले में है कि इसमें मार्क्सवाद के प्रभाव में लिखे जाने वाले साहित्य के सम्बन्ध में फैलाई जा रही भ्रांतियों का खण्डन किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध के मन में प्रगतिशील साहित्य के विकास को लेकर कितनी ललक थी। यही नहीं वे तो प्रगतिवादी आंदोलन को दुबारा से आरंभ करना चाहते थे। नामवर सिंह को लिखे एक पत्र में इसका जिक्र हुआ है। पत्र में मुक्तिबोध लिखते हैं – "शुरू शुरू में तारसप्तक के प्रकाशन के अनंतर ही प्रगतिशील क्षेत्र में नयी कविता को बड़ी गालियां पड़ी। आलोचना आवश्यक थी, विरोध आवश्यक नहीं था। खैर यह पिछली बात हुई। हुई गई। लिखने का कारण यह है कि आगे चलकर क्या इस आंदोलन को फिर से उठाना जरूरी नहीं, विशेष संशोधनों के साथ–साथ – यह सवाल दरपेश है। क्या आजतक यह बिल्कुल असंभव हो गया है? इस पर आप सोचियेगा और यदि संभव हो तो मुझे भी बताइएगा।"[43]

(ii) प्रयोगवाद

प्रयोगवाद के विषय में मुक्तिबोध ने अधिक नहीं लिखा है। उन्होंने प्रयोगवाद को कहीं कहीं नयी कविता के नाम से भी अभिहित किया है। प्रयोगवाद के उदय के सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भों का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि राजनीतिक–सामाजिक परिस्थिति बदलने के साथ छायावादी काव्य की सार्थकता पर सवाल उठाए जाने लगे। वामपंथी और

समाजवादी विचारों के प्रसार–प्रचार के बाद दो प्रकार के लेखक पैदा हुए "एक तो वो जो सीधे–सीधे राजनैतिक विचार प्रवाह के साहित्यिक रूपांतर थे; और दूसरे वे जिन्होंने छायावादी साहित्यिक आदर्शों और मनोदशाओं के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएं की थी। ये दूसरे प्रकार के लेखक सन् 1939 से ही छायावादी आदर्श भूमि को वैचारिक दृष्टि से त्याग रहे थे। इनका सबसे पहला महत्त्वपूर्ण विरोध इस बात को लेकर था। और वह यह कि छायावाद ने अर्थभूमि का संकोच कर दिया है।"[44]

छायावाद के विषय में मुक्तिबोध को लगता है कि उसमें करूण का विलास है, उसमें तकलीफ नहीं है। लेकिन नयी कविता का कवि इस तकलीफ को आत्मकेंद्रित अर्थों में ही देख रहा था। वह इस करुणा की सामाजिक व्याख्या नहीं कर पाता था। अतएव नयी कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की बगावत थी। मुक्तिबोध लिखते हैं "यह बगावत इसलिए संभव थी कि देश की बिगड़ी हुई दशा में मध्यवर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। ... नयी कविता की दूसरी बद्धमूल धारणा यह थी कि छायावाद के जीवन के प्रश्नों को भावुकता प्रधान, कल्पनामूलक आदर्शवादी दृष्टि से देखता है। ... इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि नयी कविता जीवन की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से देखने और मिटाने के लिए छटपटाने लगी और उसकी चित्रण–पद्धति बौद्धिक हो उठी। यह बौद्धिकता उसके दृष्टिकोण तक सीमित न होकर वरन् काव्य रचना का एक प्रमुख सर्जनात्क तत्त्व बनकर सामने आयी।"[45]

1943 में तारसप्तक के प्रकाशन के समय उसमें चार कवि प्रगतिवादी थे और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित। तारसप्तक कवियों में वर्तमान दुःस्थिति का भावग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नैराश्यमूलक निवेदन, राजनैतिक विरोध, सामाजिक व्यंग्य, व्यक्ति के भीतर के वास्तविक अंतर्विरोधों, जिनके स्पष्टीकरण का बहुत बड़ा सामाजिक महत्त्व है। उनके साहित्य व्यक्ति–चेतना के आभ्यंतर विकेन्द्रीकरण जो समाज में स्पष्ट लक्षित होता है। सामाजिक क्रांति के प्रति निष्ठा मनुष्य की उन्नयनशीलता के प्रति विश्वास और आस्था दृष्टिगोचर होती है।

दूसरे तारसप्तक तक आते आते स्थिति कमजोर और बदतर होती गयी। मुक्तिबोध लिखते हैं – "जिन प्रश्नों को तारसप्तक में उठाया गया उनका विकास भी दूसरे सप्तक में न

हो पाया। ... दूसरा सप्तक में न इतना सामाजिक व्यंग्य है और न राजनीतिक विरोध और न इतनी आत्मचेतना। इसके विपरीत, उसमें मनोहर प्राकृतिक दृश्यांकन, निसर्ग सौन्दर्य का अनेक रूपों में चित्रण वातावरण के सुपर रेखाचित्र और काव्य शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते हैं। ... उनके काव्यविषय भी अपेक्षाकृत सरल हैं। ... प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्तरक्षीण है, वह भी सिर्फ गूंज भरा है।"[46]

'हिंदी काव्य की नयी धारा' में मुक्तिबोध लिखते हैं कि ये कवि विचारधारा की दृष्टि से दो खेमों में बंटे हुए हैं। एक खेमा है सक्रिय प्रगतिशीलता विरोधी जिसमें सर्वप्रमुख हैं श्री वात्स्यायन और धर्मवीर भारती आदि। दूसरे लोग प्रगतिवाद के पक्ष में हैं जिसमें प्रमुख हैं – गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचंद्र जैन, नरेश कुमार मेहता, भारत भूषण अग्रवाल आदि। बहुत थोड़े ऐसे हैं जो इन दोनों की कुछ कुछ बातें मानते हुए भी दोनों से थोड़े दूर हैं। इनमें प्रमुख हैं श्री प्रभाकर माचवे, पण्डित भवानीप्रसाद मिश्र आदि।

(iii) नयी कविता

मुक्तिबोध ने सर्वाधिक लेखन नयी कविता पर किया। उनका लेखन नयी कविता पर सर्वाधिक प्रासंगिक है। नयी कविता पर उनका आलोचनात्मक लेखन सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों है। मुक्तिबोध ने बारम्बार यह बात स्पष्ट की है कि नयी कविता में प्रगतिशील परंपरा की एक लीक चली आयी है। नयी कविता को उन्होंने दो खेमों में बांटा, जिसमें से एक का सम्बन्ध निम्न मध्यवर्ग से और दूसरे का उच्चमध्यवर्ग से जोड़ा। पहली शाखा को उन्होंने प्रगतिशील माना, जिसमें अन्तर्गत शमशेर, नरेश मेहता और खुद को रखा।

मुक्तिबोध ने नयी कविता के सामाजिक संदर्भों का जो विवेचन किया है, उसके आधार पर नयी कविता का एक व्यवस्थित समाजशास्त्र तैयार किया जा सकता है। 'नये की जन्म कुंडली' का प्रकाशन 1957 में हुआ था। इसका प्रकाशन पहले 'वसुधा' पत्रिका में हुआ था। बाद में इसका 'एक साहित्यिक की डायरी' में संकलन हुआ। इसमें मुक्तिबोध लिखते हैं – "राजनीति के पास समाज सुधार का कार्यक्रम न होना साहित्य के पास समाज सुधार का कार्यक्रम न होना, सबने सोचा कि सामान्य बातें करके, सिर्फ मात्र राजनैतिक और साहित्यिक आंदोलन के जरिए वस्तुस्थिति में परिर्वतन कर सकेंगे। फलतः सामाजिक सुधारों का काम

केवल अप्रत्यक्ष प्रभावों पर छोड़ दिया गया। ... मतलब यह कि अन्यायपूर्ण व्यवस्था को चुनौती घर में नहीं घर के बाहर दी गयी। ... हम 'नया–नया' चिल्ला तो उठे, लेकिन नया क्या है – हम जान नहीं सके। क्यों? नया जीवन, नये मान मूल्य नये इंसान परिभाषा हीन और निराकार हो गये। ... असल में इस 'नवीन' को केवल अपनी इच्छा के ऊपर छोड़ दिया गया है। इसलिए 'नया' बिल्कुल प्रवृत्ति मूलक हैं।"[47]

'नयी कविता और आधुनिक भाव बोध' यह लेख सन् 1956 में प्रकाशित हुआ था। प्रारंभ में यह लेख 'नये स्वर' अप्रैल 1956 में प्रकाशित हुआ। बाद में यह नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में 'छायावाद और नयी कविता–2' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसमें मुक्तिबोध ने नयी कविता के आधुनिक भावबोध का सम्बन्ध पश्चिम की पतनशील धारा से जोड़ा और दिखाया कि भारत में भी ऐसी परिस्थितियाँ हैं कि विफलता, ग्लानि, क्षोभ आदि का चित्रण स्वाभाविक लगे। अंततः मुक्तिबोध लिखते हैं "नयी कविता के पूरे क्षेत्र को इस वैचारिक प्रवृत्ति ने, इस व्यक्तिवाद ने नहीं घेरा उसका कुछ अंश ही इस प्रवृत्ति का शिकार है। किंतु नयी कविता का यह अंश संगठित रूप से उसका प्रचार होता है। ... किंतु नयी कविता में कुछ आवाज़े ऐसी हैं, जो भारतीय व्यक्तित्त्व की, भारतीयता की, रक्षा चाहती हैं।"[48]

सन् 1959 में मुक्तिबोध ने "नयी कविता : निस्सहाय नकारात्मकता" नामक लेख लिखा। इसे 'क्षत्रज्ञ' में प्रकाशित किया गया था। बाद में इसे नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित किया गया। इस लेख में मुक्तिबोध ने नयी कविता की आधुनिकतावादी प्रवृत्ति का मूल्यांकन किया है। वे लिखते हैं – "एक निस्सहाय नकारात्मकता, अथवा अधिक से अधिक जीवन के छिटपुट चित्र जिसमें कभी आलोचनात्मकता है, तो कभी औदासीन्य का कलुष। ... लेकिन अधिक से अधिक वह आत्मान्वेषण और आत्मानुसंधान बनकर रह जाता है।"[49]

गौरतलब है कि जिस प्रयोगवाद को छायावाद के विरुद्ध मुक्तिबोध ने व्यक्तिवादी यथार्थवाद की बौद्धिक प्रतिक्रिया कहा था, उसी के परवर्ती रूप नयी कविता में सामाजिक–ज्ञान–विज्ञान के निषेध को उन्होंने खेदजनक बतलाया और अपने लेख 'नयी कविता की अंतः प्रकृति : वर्तमान और भविष्य' जिसका प्रकाशन 1959 में हुआ था। इसमें मुक्तिबोध ने स्पष्ट करते हुए लिखा है – "वस्तुतः नयी काव्य दृष्टि में हमें विवेचनात्मक,

विश्लेषणात्मक तत्त्व बहुत कम दिखायी देते हैं। इसलिए मेरा अपना ख्याल है कि नयी काव्य दृष्टि को हम बौद्धिक नहीं कह सकते। यह सोचना गलत है कि जहाँ भावुकता का अर्थात् भावनात्मक व्याकुलता का अभाव है, वहीं बौद्धिकता है।"[50]

'नयी कविता की उपलब्धि और सीमा' शीर्षक मुक्तिबोध के लेख का प्रकाशन 1959 ई. में हुआ था। इसमें मुक्तिबोध नयी कविता का समग्रतः मूल्याकन करते हैं। वे लिखते हैं "यह जो कुछ लिखा गया है और लिखा जा रहा है, वह लहरों में तैरने के समान है। लहरें दीख रही हैं, कुछ ऊंची हैं, कुछ नीची, वे अनेक हैं, असंख्य हैं। उनका चित्रण भी सुंदर हुआ है। किंतु समुद्र इन लहरों से जुड़ा हुआ होकर भी व्यापक है। ... असल में नयी कविता मानसिक तरंगों (प्रतिक्रिया) का चित्रण करती है। ये तरंगें क्षण–स्थायी हैं। ... ऐसी मानसिक प्रक्रिया जो पूरे जीवन को प्रभावित कर सके, बहुत थोड़ी होती है।"[51]

'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' लेख का प्रकाशन सन 1960 में 'कृति' के फरवरी अंक में हुआ। बाद में 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में संकलित किया गया। इस लेख में मुक्तिबोध जड़ीभूत सौंदर्याभिरूचि पर कड़ा सवाल उठाते हैं, एवं उसकी आलोचना करते हैं – "सच तो यह है कि जो काव्यात्मक एक बंद संदूक (क्लोज्ड सिस्टम) बनाता है। ... वह जड़ीभूत सौदर्याभिरूचि ही प्रस्तुत कर रही है। इसी तरह की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढ़र्रे के बाहर प्रचलित नयी काव्य समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देख पाते। जड़ीभूत सौंदर्याभिरूचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीतों का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है। ... किंतु जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि जबरदस्ती का विरोध पैदा कर देगी। वह स्वयं अपनी धारा का विकास भी कुंठित करेगी। साथ ही पूरे साहित्य का। नयी कविता में स्वयं ही कई भावधाराएं हैं, एक भावधारा नहीं है। इनमें से एक भावधारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त है। उनकी समीक्षा होना बहुत आवश्यक है।"[52]

संदर्भ सूची

1. मुक्तिबोध रचनावली–4, पृ. 53
2. मुक्तिबोध रचनावली–5, पृ. 266
3. वही पृ. 23
4. वही, पृ. 24
5. वही, पृ. 279
6. वही, पृ. 280
7. वही, पृ. 375
8. वही, पृ. 386
9. वही, पृ. 396
10. वही, पृ. 43
11. वही, पृ. 58
12. वही, पृ. 293
13. दूसरी परंपरा की खोज – नामवर सिंह, पृ. 85
14. मुक्तिबोध रचना–5, पृ. 293–294
15. वही, पृ. 289
16. वही, पृ. 292
17. वही, पृ. 291
18. वही, पृ. 54–69
19. वही, पृ. 41
20. वही, पृ. 311
21. वही, पृ. 436
22. वही, पृ. 447
23. वही, पृ. 448
24. वही, पृ. 449
25. वही, पृ. 450
26. वही, पृ. 455
27. रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना – रामविलास शर्मा, पृ. 193
28. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 12
29. कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध, पृ. 108
30. वही, पृ. 120
31. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ. 85
32. वही, पृ. 88
33. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 241–42
34. वही, पृ. 234

35. वही, पृ. 210
36. नयी कविता और अस्तित्त्वाद – रामविलास शर्मा, पृ. 167
37. मुक्तिबोध रचनावली–4, पृ. 470
38. वही, पृ. 468
39. वही, पृ. 30–31
40. वही, पृ. 30
41. वही, पृ. 77
42. वही, पृ. 71
43. वही, पृ. 346
44. वही, पृ. 317
45. वही, पृ. 318
46. वही, पृ. 319
47. वही, पृ. 53
48. मुक्तिबोध रचनावली–5, पृ. 309
49. वही, पृ. 349
50. वही, पृ. 335
51. मुक्तिबोध रचनावली–4, पृ. 104
52. मुक्तिबोध रचनावली–5, पृ. 334

अध्याय–चार

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का सैद्धांतिक पक्ष : साम्य और वैषम्य

4.1 अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना के सामान्य स्वर

4.2 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में साम्य

4.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में वैषम्य

4.1 अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना के सामान्य स्वर

सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म साहित्य के सम्बन्ध में बुनियादी प्रश्नों से टकराने के क्रम में हुआ है। उदाहरण के लिए वह खास वस्तु क्या है, जो साहित्य को ज्ञान की अन्य शाखाओं से अलग करती है। किस चीज के कारण कविता कविता, कहानी कहानी, नाटक नाटक और उपन्यास उपन्यास बनते हैं? साहित्य की शक्ति क्या है? उसकी सीमा क्या है? उसके मूल्यांकन का दृष्टिकोण क्या हो सकता है? साहित्य और समाज का सम्बन्ध कैसा होता है? साहित्य का उद्देश्य क्या है? साहित्य किसके लिए? और वह कौन–सी प्रक्रिया है जिसके कारण रचनाकार अपने 'अवलोकन' और 'अनुभव' को अभिव्यक्त करता है? इन सभी सवालों का जवाब भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों ने गंभीरतापूर्वक खोजने की कोशिश की है। इन्हीं सवालों से टकराने की पृष्ठभूमि में अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना एवं उसके सामान्य स्वर निर्मित होते हैं।

साहित्य में विशेषकर कविता और आलोचना के क्षेत्र में परस्पर विरोधी युग्मों को प्रस्तुत करने की ऐसी कोशिश की जाती है जिससे वह विलोम प्रतीत होते हैं यह बात प्रायः भुला दी जाती है कि किसी भी समय में लिखने वालों के बीच समानता और साहचर्य हो सकता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार छायावाद में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी अपने तुलना में कम साम्य और अधिक वैषम्य के बावजूद छायावादी हैं, उसी प्रकार अज्ञेय और मुक्तिबोध नई कविता, आधुनिकता, रचना और आलोचना में अपनी समानताओं और विषमताओं, परस्पर विरोधों और अन्तर्विरोधों के बावजूद साहचर्य आलोचक है। यह कहना गलत न होगा कि साहित्य हमेशा ही समकालीनों, बल्कि समकालीनों और प्राचीनों के बीच भी साहचर्य है।

अज्ञेय ने उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना–चिंतन, यात्रा–वृत्तांत, डायरी आदि अनेक क्षेत्रों में लिखकर हर एक में शीर्ष स्थान हासिल किया। मुक्तिबोध ने भी आलोचना, उपन्यास, कहानी और डायरी की विधाओं में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अज्ञेय और मुक्तिबोध की चिन्तन प्रक्रिया में बदले हुए संदर्भों और नई संवेदना के चलते किस तरह के साहित्यिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य आवश्यक होंगे आदि सवालों को प्रमुखता से उठाया गया है। अज्ञेय के यहाँ व्यक्ति की स्वाधीनता की खोज है, मुक्तिबोध के यहाँ सामाजिक मुक्ति की

विकलता है। अज्ञेय नए व्यक्तित्व और व्यक्ति की गरिमा का आग्रह करते हैं पर यह व्यक्ति समाज–निरपेक्ष नहीं है। मुक्तिबोध नई सामाजिकता की खोज पर बल देते हैं पर यह व्यक्ति–निरपेक्ष नहीं है। जहाँ अज्ञेय आत्मबोध और आत्मान्वेषण पर बल देते हैं, वहीं मुक्तिबोध आत्मालोचन और आत्माभियोग पर बल देते हैं।

अज्ञेय के यहाँ आग्रह परम्पराबोध पर है और साथ ही आधुनिकता को समझने–बूझने के लिए परम्परा का सजग और आलोचनात्मक बोध आवश्यक है। अज्ञेय की आलोचना एवं कविता का बीजशब्द 'परम्परा' है। मुक्तिबोध सजग इतिहासबोध के रचनाकार और विचारक हैं। वे आधुनिकता के लिए इतिहासबोध अनिवार्य मानते हैं अज्ञेय की चिन्तन–प्रक्रिया सामाजिक होने के साथ–साथ आध्यात्मिक भी है। मुक्तिबोध सामाजिक प्रश्नों को वरीयता देते हैं, हालांकि उनके यहाँ अस्तित्वगत प्रश्न भी कम नहीं है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के न केवल आलोचना में बल्कि अपनी रचनाओं में भी उनकी आलोचक दृष्टि सक्रिय है। अज्ञेय आधुनिकता को लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से जाँचते–परखते हैं, मुक्तिबोध इसे समाजवादी दृष्टि से देखते हैं। अज्ञेय अस्तित्व के प्रश्न को पूछते हैं जबकि मुक्तिबोध समाज के सवाल को। अज्ञेय और मुक्तिबोध सभ्यता समीक्षक हैं। वे अपनी रचना और विचार दोनों में ही सभ्यता के संकट, उसके बोझ, उसकी मुक्ति और उसकी संभावनाओं की बात करते हैं। यह कहना गलत न होगा कि अज्ञेय और मुक्तिबोध सभ्यता के कवि और आलोचक दोनों हैं। अपनी सभ्यता–समीक्षा में अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों आधुनिक सभ्यता की विकृतियों और विरूपों को पहचानते हैं, उनकी सख्त आलोचना करते हैं, उसमें हो रहे मानवीय और मूल्य–क्षरण का तीखा प्रतिरोध करते हैं। अज्ञेय के लिए अगर लोकतंत्र एक आत्यंतिक मूल्य है तो मुक्तिबोध के लिए समाजवाद। उल्लेखनीय है कि अज्ञेय और मुक्तिबोध नेहरू युग के समकालीन हैं। उस युग में लोकतंत्र की स्थापना और समाजवादी व्यवस्था के विकास में गहरी आस्था थी।

अज्ञेय और मुक्तिबोध अपनी–अपनी तरह से प्रतिरोध के कवि और आलोचक हैं। अज्ञेय चालू नैतिकता, व्यक्ति के अवमूल्यन और सामाजिकता के नाम पर हो रहे समाज के ह्रास के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं तो मुक्तिबोध व्यक्तिवाद, शोषण, सामाजिक अन्याय और मध्यवर्गीय अवसरवादिता के विरुद्ध। यदि मुक्तिबोध 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' का निषेध

करते हैं तो अज्ञेय के यहाँ सुरुचि का रचाव है। पूर्व–पश्चिम के द्वन्द्व की तीखी चेतना से संपन्न अज्ञेय, प्रसाद के लगभग उत्तराधिकारी हैं तो मुक्तिबोध, प्रसाद से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध बनाते हैं।

कालबोध और युगबोध में अंतर की दृष्टि से दोनों का मूल्यांकन किया जाय तो अज्ञेय में कालबोध और युगबोध दोनों ही प्रबल हैं। मुक्तिबोध में युगबोध प्रखर है। इनमें अपेक्षाकृत कालबोध कम है। संप्रेषणीयता की दृष्टि से देखें तो अज्ञेय अधिक संप्रेषणीय तथा मुक्तिबोध अपेक्षाकृत कम संप्रेषणीय हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के संदर्भ में अशोक वाजपेयी एक वाकया को याद करते हुए लिखते हैं – "अज्ञेय का एक प्रिय शब्द था – आत्मसंघर्ष। बहुत पहले हम लोगों ने एक बार कुछ मित्रों ने मिलकर सागर विश्वविद्यालय में मुक्तिबोध को आमंत्रित किया था एक व्याख्यान के लिए तो मुक्तिबोध जी ने चिट्ठी लिखकर पूछा – "ज़रा विषय तो बताइए। उस समय' आत्मसंघर्ष' बहुत हवा में था। एक व्याख्यान पहले अज्ञेय दे चुके थे 'कवि कर्म माध्यम और मर्यादा' जो कि 'आत्मनेपद' में संकलित है। तो हमने उनको विषय सुझाया था – 'नई कविता का आत्मसंघर्ष'। वह निबंध मुक्तिबोध का बाद में 'कृति' में छपा और बाद में उनके एक निबंध–संग्रह का नाम भी हुआ।"[1] यह उद्धरण अज्ञेय और मुक्तिबोध की समान आलोचना दृष्टि की ओर संकेत करता है।

उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने संघर्षमूलक काव्य की विशेषता बतलाते हुए 'विरुद्धों के सामंजस्य' की चर्चा की है। 'विरुद्धों के सामंजस्य' की व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं : "लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंद कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीष्णता में भी अद्‌भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है।"[2] आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि में भी संघर्षमूलक काव्य पहले और आनंदमूलक काव्य दूसरे स्थान पर है।

नई कविता को ऐतिहासिक संदर्भ में देखें तो उसमें द्वन्द्व और तनाव को काव्य के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसी ऐतिहासिक संदर्भ में मुक्तिबोध का यह

कथन अर्थपूर्ण हो जाता है कि "काव्य या तो बाह्य जीवन–जगत के साथ सामंजस्य में या उसके अनुकूल उपस्थित होता है अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है अथवा काव्य–प्रवृत्ति एक स्तर या क्षेत्र में सामंजस्य और दूसरे स्तर या क्षेत्र में द्वन्द्व को लेकर प्रस्तुत होती है। संक्षेप में, आभ्यंतर या बाह्यीकरणः विश्वव्यापी सामंजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के भिन्न रूप में उपस्थित होता है। आज की कविता में उक्त सामंजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है। इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है।"[3] मुक्तिबोध ने संघर्ष और द्वन्द्व को एक कदम और आगे बढ़ाकर 'तनाव' तक पहुंचा दिया जो हिन्दी आलोचना में एक अर्थपूर्ण पारिभाषिक शब्द बन गया। कविता में 'तनाव' के महत्त्व को अज्ञेय ने भी स्वीकार किया है। अज्ञेय 'आत्मनेपद' में लिखते हैं – "मानसिक तनाव से धनुष की प्रत्यंचा–सी तनी हुई, अंतर्जीवन की तीखी चेतना से स्वर–सी संयत, लेकिन जीवन की विविधता के बोध से विशृंखल होती हुई भी – आज की कविता का सौन्दर्य इसी कोटि का है।"[4] इसमें संदेह नहीं है कि मुक्तिबोध के 'तनाव' और अज्ञेय के 'तनाव' की प्रकृति में अंतर है। अज्ञेय की दृष्टि में 'मानसिक तनाव' की प्रमुखता है, जिसे जीवन की विविधता का बोध विशृंखल' करता है। इसके उलट मुक्तिबोध का तनाव दोहरापन लिये हुए है, एक ओर अपने परिवेश के साथ तो दूसरी ओर स्वयं के अंदर। लेकिन अंततः ये दोनों तनाव परस्पर संबद्ध है। इस प्रकार तनाव सम्बन्धी इन दोनों दृष्टियों की परिणति दो रूपों में हुई है।

'भारतीय साहित्य परंपरा : संघर्ष का उपयोग' निबंध में अज्ञेय संघर्ष को नये रूप में परिभाषित करते हैं। वे लिखते हैं – "जहाँ संघर्ष मौजूद है, वहाँ महत्त्व यह पहचानने का नहीं कि परिवेश में परिवर्तन लाया जा सकता है, महत्त्व की बात यह है कि अपने भीतर एक नई क्षमता पहचानी जा सकती है, यह और यही मात्र संघर्ष का रचनात्मक उपयोग है : जब संघर्ष एक उच्चतर आत्मचेतना और ज्ञान की खिड़की का काम दे।"[5]

अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना के सामान्य स्वर की निर्मिति में विचारधारा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इनकी विचारधारा का प्रथमचरण गांधीवाद का प्रभाव था। लेकिन धीरे–धीरे साहित्यिक और राजनीतिक विकास के साथ–साथ उनके विचारधारा में भी बदलाव दिखता है। अज्ञेय पर गांधीवाद का प्रभाव बचपन से ही था। एक समय वे 'गांधी जी का बोलबाला, दुश्मन का मुंह काला' जैसे नारे से प्रभावित थे, जिसका उल्लेख

उन्होंने 'शेखर : एक जीवनी' में किया है। आगे चलकर उन पर भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद का प्रभाव दिखता है जो उन्हें क्रांतिकारी रूप प्रदान किया। अज्ञेय पर सर्वाधिक प्रभाव मानवेन्द्रनाथ राय का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञेय किसी एक विचार धारा के पिछलग्गू होने के खिलाफ थे। हिन्दी साहित्य में यह जगजाहिर है कि अज्ञेय प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिवाद के विरोधी थे लेकिन इस बात को सही मायने में समझने की जरूरत है। 1943 में प्रकाशित 'तारसप्तक' का प्रगतिवादी कैंप में स्वागत होना, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध और नेमिचंद्र जैन जैसे मार्क्सवादियों का अज्ञेय को सहयोग मिलना आदि यह सिद्ध करता है कि अज्ञेय की प्रगतिशील एवं प्रगतिवादियों से निकटता थी।

मुक्तिबोध की विचारधारा मार्क्सवादी रही है। हालांकि उनका भी प्रारंभिक झुकाव गांधीवाद की तरफ था। लेकिन रूसी शोधार्थी तेनेश्कोवा से परिचय के बाद उनका झुकाव मार्क्सवाद की तरफ हो गया। इसे परिपक्वता साहित्यकार प्रभाकर माचवे और नेमिचंद जैन के परिचय से मिला। निर्विवाद रूप से मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे परन्तु वे मार्क्सवाद की कमियों से हमेशा लड़ते रहे। यह उनके रचना ओर आलोचना से स्पष्ट होता है। अज्ञेय और मुक्तिबोध के विषय में निर्मला जैन लिखती हैं – "दिलचस्प बात तो यह है कि 'तार सप्तक' के दो कवि अज्ञेय और मुक्तिबोध लगभग समानान्तर काव्य रचना भी कर रहे थे और काव्य की आलोचना भी जिसमें सैद्धांतिक स्थापनाएं और व्यावहारिक समीक्षाएं दोनों शामिल थीं। कहीं–कहीं तो प्रश्न भी एक ही था, पर उत्तर अपने–अपने थे।"[6]

कला और कलाकार के पृथक्त्व को लेकर अज्ञेय और मुक्तिबोध के विचार एक जैसे हैं। अज्ञेय लिखते हैं – "कलाकार जितना ही संपूर्ण होगा उतना ही उसके भीतर भोगने वाले प्राणी और रचने वाले मनीषा का पृथकत्व स्पष्ट होगा।"[7] इस सिद्धांत से साम्यता रखते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "वास्तविक जीवन जीते समय, संवेदनात्मक अनुभव करना और साथ ही साथ ठीक उसी अनुभव के कल्पना चित्र प्रक्षेपित करना – ये दोनों कार्य एकदम एक साथ नहीं हो सकते।"[8]

वाचिक और मुद्रित कविता के संदर्भ में अज्ञेय और मुक्तिबोध का मंतव्य एक समान है। 'सर्जना और संदर्भ' में अज्ञेय लिखते हैं – "वाचिक से मुद्रित तक का संक्रमण

काव्य–यात्रा का केवल एक पड़ाव नहीं है, बल्कि वह काव्य के स्वभाव में परिवर्तन है, संप्रेषण की एक नई स्थिति और नई प्रक्रिया है, स्रष्टा और सामाजिक के बीच एक नये रिश्ते का आरंभ है। कवि 'लेखक' बनता है तो समाज 'जनता' बन जाता है।"[9] इसी संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "नयी कविता की शैली में जो कविता है उसमें तो आधुनिक संवेदना है, लेकिन अन्य में नहीं। उसमें आधुनिक भावबोध है। यह कविता पाठ्य है, श्रव्य नहीं।"[10]

काव्य का विषय और काव्य की वस्तु में अंतर विषय पर अज्ञेय और मुक्तिबोध के सिद्धांतों में साम्यता है। इस पर विचार करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "काव्य का विषय और काव्य की वस्तु अलग–अलग चीजें हैं, पर हिन्दी आलोचना में पढ़कर बार–बार समझना पड़ता है कि इस बुनियादी बात को स्पष्ट कहने और दोहराने की आवश्यकता है।"[11] इसी संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "वस्तु का क्या अर्थ है? क्या वस्तु से हमारा अभिप्राय काव्य विषय से है? किन्तु वस्तु स्वयं अपने आप में काव्य का विषय नहीं होता। ... संक्षेप में काव्य का विषय और काव्य की वस्तु इन दोनों में बहुत भेद है। 'विषय' शब्द का अर्थ व्यापक है, 'वस्तु' का संकुचित।"[12]

विषमता या अंतर व्यक्ति या वस्तु को महत्त्वपूर्ण और विशेष बनाता है। यही कारण अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के संदर्भ में लागू होता है। वैषम्यता के कारण ही अज्ञेय और मुक्तिबोध को धुर विरोधी के रूप में देखा जाता रहा है। प्रयोगवाद – नयी कविता के कलावादी धारा के अगुवा अज्ञेय ने समाज निरपेक्ष सौन्दर्यवादी कला दर्शन के निर्माण का प्रयत्न किया। कला का अपना पूर्ण स्वायत्त संसार होता है और रचना या आलोचना के प्रसंग में कला के संसार का समाज के वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। रचनाकार के भोक्ता–मन और सर्जक–मन के बीच पार्थक्य होता है। यह धारणा टी.एस. इलियट की है जिसका अज्ञेय ने खूब प्रचार किया।

मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक संघर्ष के दौरान ही रचना और आलोचना से संबद्ध विभिन्न समस्याओं के बारे में जो महत्त्वपूर्ण और मौलिक चिंतन किया है। उसके आधार पर वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना के सबसे बड़े विचारक सिद्ध होते हैं। उनके साहित्य चिंतन से मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का मार्ग प्रशस्त हुआ।

मुक्तिबोध ने अपने सिद्धांतों के माध्यम से हिन्दी आलोचना की भाषा को नये पारिभाषिक शब्दों से समृद्ध किया है।

मुक्तिबोध ने नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा के कलावाद पर चोट करते हुए लिखा कि जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के बीच पूर्ण पार्थक्य स्थापित करने वाली अवधारणा गलत है। उनके अनुसार यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके पीछे न केवल विशेष सौन्दर्याभिरुचि है, बल्कि विशेष प्रकार के विषय संकलन का आग्रह भी है, लेकिन इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य यह है कि व्यक्ति को व्यक्तिबद्ध बनाया जाय। इसी कारण मुक्तिबोध ने जीवनानुभूति और काव्यानुभूति में पार्थक्य स्थापित करने वाले सिद्धान्तों को व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी कहा है।

व्यक्तिवादी कलावादी मान्यता के अनुसार जीवनानुभूति और काव्यानुभूति में समानान्तरता होती है; एकता नहीं। यह पृथक, समानांतर हो सकती है, परन्तु एक नहीं। मुक्तिबोध ने जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की समानान्तरता की धारणा का खण्डन किया है और दोनों की एकता पर बल दिया। उनके अनुसार – "सौन्दर्यानुभव जीवन के सार रूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है, किन्तु वह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य के पास अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ–साथ तन्मय होने का, विलीन हो जाने का मानवीय गुण और उस गुण का साम्य अर्थ प्राप्त हो, तभी वह विशिष्ट की सामान्य परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनंद उठा सकेगा।"[13] उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जीवनानुभूति और काव्यानुभूति की एकता को स्वीकार करते हुए रचनाकारों के लिए आत्मबोध के साथ–साथ जगतबोध को अर्जित करने पर बल दिया था। उसी प्रकार मुक्तिबोध भी जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की एकता स्वीकार करते हैं। और रचनाकार को आत्मचेतस होने के साथ–साथ विश्वचेतस होने की सलाह देते हैं।

कलावादियों के अनुसार सौन्दर्यानुभूति का केवल क्षण ही हो सकता है। मुक्तिबोध ने क्षणवाद का खण्डन करते हुए लिखा है – "सौन्दर्यवाद कलाकार को क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिन्दुओं में उसे समेटकर, बाँधकर रखना चाहता है ताकि वह अपने समस्त व्यक्ति और समस्त अंतर जीवन की प्राणधाराओं को भूमिगत करके केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिन्दुओं में आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जाए।"[14]

मुक्तिबोध ने क्षणवाद के राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखा है – "इनकी बड़ी चिंता यह थी कि समाज में प्रचलित समाजवादी भावों और प्रगतिशील झुकाओं को लेखक कहीं मूलबद्ध रूप से स्वीकार न कर लें अतएव उनका प्रधान आग्रह यह था कि लेखक सौन्दर्यानुभूति का जो विशेष क्षण होता है; उस क्षण की सत्ता की परिधि के बाहर न जाए।"[15] इस प्रकार मुक्तिबोध संकेत करते हैं कि सौन्दर्यवाद और क्षणवाद का मुख्य प्रयोजन साम्यवाद और प्रगतिवाद का विरोध करना था।

मुक्तिबोध ने अनुभूति की ईमानदारी के नारे का खण्डन करते हुए कहा कि "अनुभूति की ईमानदारी का नारा देने वाले असल में भाव या विचार के सिर्फ सब्जेक्टिव पहलू, केवल आत्मगत पक्ष के चित्रण को ही महत्त्व देकर उसे भाव सत्य या आत्मसत्य की उपाधि देते हैं, किन्तु भाव या विचार का आब्जेक्टिव पहलू अर्थात् वस्तुपरक पक्ष भी होता है।"[16] इस प्रकार मुक्तिबोध ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण ही 'अनुभूति की ईमानदारी' में निहित भाववाद को पहचाना और उसके आत्मगत पक्ष और वस्तुगत पक्ष पर बल दिया।

व्यक्तिवादी कलावादी धारा की मान्यता थी कि सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि में परस्पर विरोध होता है। इनके अनुसार काव्य का सत्य कवि आत्मसत्य होता है; कवि का आत्मान्वेषण करना और आत्माभिव्यक्त करना। उसका सामाजिक संघर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मुक्तिबोध ने इसका खण्डन किया है। वे कविता की रचना–प्रक्रिया को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। उनके अनुसार – "जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज या वर्ग की देन है।"[17] आत्माभिव्यक्ति की धारणा का खण्डन कर मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षणों का उल्लेख किया –

1. जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव
2. इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए मूलों से पृथक को जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैंटेसी आंखों के सामने ही खड़ी हो।
3. इस फैंटेसी के शब्द–बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।

व्यक्ति स्वातंत्र्य को मुक्तिबोध ने प्रतिक्रियावाद कहा था। यह गौरतलब है कि मुक्तिबोध हर तरह के व्यक्ति स्वातंत्र्य के विरोधी नहीं थे। वे व्यक्ति–स्वातंत्र्य के नाम पर प्रचलित समाज–विरोधी और मानव–विरोधी व्यक्तिवाद के विरोधी थे। वे जनता की स्वतंत्रता के समर्थक थे; इसलिए व्यक्ति स्वातंत्र्य को जनता की मुक्ति की आकांक्षा से जोड़कर देखते थे।

नयी कविता के व्यक्तिवादियों की जीवनदृष्टि और राजनीतिक दृष्टि को उजागर करने वाला सिद्धान्त 'लघुमानव' का है। मुक्तिबोध इस लघुमानववाद को शीतयुद्ध की साम्राज्यवादी ताकत की उपज मानते थे।

आधुनिकतावाद, जिसे नयी कविता वालों ने पश्चिमी बुर्जुआ विचारकों से प्राप्त किया था। प्रगति विरोधी व्यक्तिवादियों ने इतिहास और परम्परा से मुक्ति के आग्रही आधुनिकतावाद को स्वीकारा। आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत अनास्था, अस्तित्व संकट, संत्रास और मृत्युबोध को शामिल किया। मुक्तिबोध इसका खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि, "इस आधुनिक भावबोध में उन उत्पीड़नकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है, जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूंजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं। तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है, जिन्हें हम जनता कहते हैं, शोषित वर्ग कहते हैं।"[18] अज्ञेय ने इस मत का विरोध करते हुए कहा – "किसान–मजदूरों की तरह आज निम्न मध्यवर्ग भी पीड़ित है – यही नहीं, बल्कि इस समाज व्यवस्था में छोटे–बड़े सभी लोग परेशान हैं, इसलिए साहित्य सबके लिए – संपूर्ण मानव जाति के लिए है।"[19] अज्ञेय मानवतावादी साहित्य में विश्वास रखते हैं। हालांकि इस मानवतावाद का कारण प्रगतिवाद ही है। अज्ञेय के इस दृष्टिकोण के विषय में नामवर सिंह लिखते हैं – "अज्ञेय के साहित्य का पन्ना–पन्ना प्रमाणित करता है जिससे वर्ग भेद से ऊपर उठकर निष्पक्ष भाव से लिखने के नाम पर लेखक केवल अपनी विशिष्ट मध्यवर्गीय दुर्बलता को ही 'रैशनलाइज' करता चलता है और किसान–मजदूर शब्द तक उसकी कलम की नोंक पर नहीं आते।"[20] नामवर सिंह के इस मूल्यांकन के बाद अज्ञेय द्वारा किसान–मजदूर विषय पर लिखी गयी कुछ कविताएं जरूर मिली हैं। उदाहरण के लिए –

"यह जो मिट्टी गोड़ता है
कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है
उसकी मैं साधना हूँ।

यह जो मिट्टी फोड़ता है
मड़िया में रहता और महलों को बनाता है
उसकी मैं आस्था हूँ।"[21]

अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धांतिक आलोचना के सामान्य स्वर इस प्रकार उभरकर सामने आते हैं –

1. दोनों की अलग विचारधारा होने के बावजूद सवाल और उत्तर एक ही।
2. परंपरा और आधुनिकता
3. कालबोध और युगबोध
4. आत्मसंघर्ष का प्रश्न
5. तनाव का प्रश्न
6. कला और कलाकार में पृथकत्व का प्रश्न
7. वाचिक और मुद्रित कविता का प्रश्न
8. काव्य–विषय और काव्य–वस्तु में अंतर का प्रश्न
9. जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के सम्बन्ध का प्रश्न
10. क्षणवाद का प्रश्न
11. अनुभूति की ईमानदारी का प्रश्न
12. सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि में सम्बन्ध।

4.2 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में साम्य

अज्ञेय और मुक्तिबोध की आलोचना कर्म की तुलना एक चुनौती है। इसका कारण हिन्दी आलोचना में अज्ञेय और मुक्तिबोध को दो अलग ध्रुवों के रूप में देखने से है। दोनों आलोचक वैचारिक और रचना–प्रक्रिया में भिन्नता रखते हुए भी कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक मान्यताओं में साम्यता रखते हैं। इनके गुटों द्वारा इनको अलग–अलग ध्रुवांत बनाया गया। इससे साहित्य में अज्ञेय और मुक्तिबोध की छवि एक दूसरे के विलोम के रूप में उभरकर सामने आती है। यह पूर्णतः सत्य नहीं है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के व्यक्तिगत और सैद्धांतिक सम्बन्धों की पड़ताल उनके समकालीनों, संस्मरणों और जीवनियों के माध्यम से की जा सकती है। ऐसा ही प्रयास इस शोध प्रबंध में किया गया है। यह कोशिश की गयी है कि ऐसे प्रयास से इन दोनों आलोचकों की साफ छवि सामने उभर कर आ सके।

केदारनाथ सिंह एक संस्मरण में लिखते हैं – "मुक्तिबोध और अज्ञेय का जो विलोम आज हिन्दी में बन गया है, उसको देखते हुए वह नाश्ते की मेज पर की मुक्तिबोध की चर्चा आज और महत्त्वपूर्ण लगती है। हालांकि अज्ञेय के निधन के कोई पच्चीस वर्ष बाद 'जनसत्ता' में मुक्तिबोध की मृत्यु पर लिखा अज्ञेय जी का जो अब तक अप्रकाशित श्रद्धांजलि लेख छपा है, वह बहुत सारी मिथ्या धारणाओं को निरस्त करता है। उसमें मुक्तिबोध को अज्ञेय ने पूर्ण कवि ही नहीं कहा, मुक्तिबोध के प्रति एक आत्मीय भाव भी उसमें स्पष्ट प्रकट है।"[22]

अज्ञेय और मुक्तिबोध के बीच की खाई के कारण को ओम थानवी एक संस्मरण में स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं – "1977 की बात है। कलकत्ता में वे अपनी लेखन प्रक्रिया पर बोल रहे थे। कल्याणमल लोढ़ा सभा के अध्यक्ष थे। एक युवा लेखक ने उनके वक्तव्य के बीच शोर मचाना शुरु कर दिया – 'आपकी रईसी में जीने वाला लेखक रचनाधर्मी कैसे हो सकता है? वात्स्यायन जी ने कहा कि अपनी बात पूरी रख लूँ, उसके बाद सवाल रखें तो अच्छा होगा। बात पूरी होने से पहले ही युवा लेखक फिर से शुरू हो गये, इस बार कुछ ज्यादा उग्र होकर। बोले, सुविधाजीवी लेखकों ने हिन्दी का बहुत नुकसान किया है। आपने सबसे ज्यादा आपके हाथों में मुक्तिबोध का खून लगा है। आप चाहते तो मुक्तिबोध की असमय मृत्यु न

होती। ... अज्ञेय ने जीवन में तरह–तरह के आरोप सुने और झेले होंगे, पर मुक्तिबोध के नाम पर वह बेहद घिनौना आरोप था। ...मुक्तिबोध का मैं सम्मान करता था और उनके लिए जो कर सकता था किया, उसका ब्यौरा देने की जरूरत नहीं।... कहना न होगा, ऐसे पूर्वग्रह ज्यादातर वामपंथी लेखकों में देखे गये। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि सभी वामपंथी ख्यालतन अज्ञेय विरोधी रहे हैं। मुझे अज्ञेय और कुछ वामपंथी रचनाकारों का पत्राचार देखने का मौका मिला है। उनमें शमशेर और मुक्तिबोध के पत्र भी शामिल हैं। अज्ञेय के प्रति दोनों कवियों का आदर और भरोसा कई लेखकों को परेशान करेगा।"[23]

अज्ञेय और मुक्तिबोध के विषय में अज्ञेय के जीवनीकार रामकमल राय ने 'शिखर से सागर तक' में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं – "... जो मुक्तिबोध, निराला, धूमिल को उछाल रहे हैं, उन्होंने उनकी रचनाएं तक नहीं पढ़ी हैं। वे नहीं जानते कि साहित्य में विभाजन रेखा बनाने की कोशिश गलत बात है। बेमतलब तनाव के चिंतन से ग्रसित हैं। ...आप क्या सोचते हैं – अज्ञेय आखिर बोले – विभाजन किसी भी स्थिति में सार्थक शर्त नहीं है। उससे न व्यक्ति का, न समाज या देश अथवा साहित्य का भला होगा। परंतु यह व्यक्ति–व्यक्ति पर निर्भर करता है। मैंने कभी मुक्तिबोध की आलोचना नहीं की। उनकी कविताओं, लेखन या चिंतन को लेकर कटु बात सोचना तो बहुत दूर की बात है। मुक्तिबोध तारसप्तक के साथ थे। वे मेरे प्रिय कवि रहे हैं। व्यक्तिगत स्तर पर मुक्तिबोध मुझसे जीवन भर जुड़े रहे। एक रचनाकार दूसरे रचनाकार का अहित अगर करता है तो वह अपने लेखक से नीचे गिर जाता है। आज पता नहीं कुछ लोग क्यों अजीब बातें कर रहे हैं। मुझे न सही, वे शायद मुक्तिबोध को भी नहीं जानते हैं।"[24]

अज्ञेय और मुक्तिबोध की विचारधारा को समझना आवश्यक है। इन दोनों आलोचकों का प्रारंभिक झुकाव गांधीवाद की तरफ था, परंतु धीरे–धीरे साहित्यिक–वैयक्तिक विकास के साथ–साथ उनकी विचारधारा में बदलाव दिखता है। अज्ञेय बचपन में गांधीवाद से प्रभावित थे। वे 'गांधी जी का बोलबाला, दुश्मन का मुंह काला' जैसे नारे को अपने मन में बैठा चुके थे। आगे चलकर उन पर भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद का प्रभाव दिखता है जो उन्हें क्रांतिकारी रूप प्रदान करता है। अज्ञेय पर मानवेन्द्रनाथ राय के मानववाद का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। फिर, वे लोहिया और जयप्रकाश नारायण के विचारों से भी प्रभावित रहे। आखिरी

दिनों में उन्होंने इंदिरा गांधी की नीतियों की भी आलोचना की। दरअसल, अज्ञेय किसी एक विचारधारा के पिछलग्गू होने के खिलाफ थे। व्यावहारिक राजनीति को लेकर उनके विचारों में बदलाव आता रहा, लेकिन स्वतंत्रता और समता में उनकी मूल्यगत आस्था हमेशा कायम रही।

साहित्य अकादमी में हुई अज्ञेय जन्मशती संगोष्ठी में उदय प्रकाश ने अपने वक्तव्य में यह रेखांकित करने की कोशिश की कि अज्ञेय वामपंथी थे, दक्षिणपंथी नहीं। इस बात पर कट्टर वामपंथी बहुत नाराज हो गये। अज्ञेय प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिवाद के कट्टर विरोधी थे। इस बात को सही मायने में समझने की आवश्यकता है। "'तार सप्तक' का प्रगतिवादी कैंप में स्वागत होना। प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध और नेमीचंद्र जैन जैसे मार्क्सवादियों का अज्ञेय को सहयोग मिलना यह सिद्ध करता है कि आगे 1942–43 के समीप प्रगतिशील लेखक संघ के वे निकट थे। यह नहीं भूलना चाहिए कि मार्क्सवाद और प्रगतिशील लेखक संघ के घोर विरोधी इस व्यक्ति ने एक समय प्रगतिशील लेखक संघ के आवाहन पर सन् 1942 में दिल्ली में जो पहला फासीस्ट विरोधी सम्मेलन बुलाया गया था उसमें अज्ञेय ने मुख्य भूमिका निभाई थी।"[25]

मुक्तिबोध प्रतिबद्ध मार्क्सवादी के रूप में जाने जाते हैं। उनका भी प्रारंभिक झुकाव गांधीवाद की तरफ था, परंतु रूस से भारत शोध करने आई छात्रा तेनेश्कोवा से परिचय होने के बाद उनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। बाद में प्रभाकर माचवे और नेमिचंद्र जैन से परिचय होने पर वे विशुद्ध मार्क्सवादी बन गये। हालांकि मुक्तिबोध प्रतिबद्ध मार्क्सवादी होने के बावजूद मार्क्सवाद की कमियों से हमेशा लड़ते रहे। यह प्रभाव उनके आलोचना में भी दिखता है।

'हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी' में निर्मला जैन लिखती हैं – "दिलचस्प बात तो यह है कि 'तारसप्तक' के दो कवि 'अज्ञेय' और 'मुक्तिबोध' लगभग समानान्तर काव्य रचना भी कर रहे थे, और काव्य की आलोचना भी जिसमें सैद्धांतिक स्थापनाएँ और व्यावहारिक समीक्षाएं दोनों शामिल थीं। कहीं–कहीं तो प्रश्न भी एक ही था, पर उत्तर अपने–अपने थे। मुक्तिबोध ने नयी कविता का सौंदर्यशास्त्र निर्मित करने का प्रयास अपने ढंग से किया और अज्ञेय ने अपने ढंग से। अहं और इदम् के बीच परिस्थितिजन्य तनाव का तीखा बोध दोनों को था।"[26]

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि हिन्दी में अज्ञेय और मुक्तिबोध लगभग दो ध्रुवांतों की तरह प्रस्तुत किये गये हैं। यह भी ध्यान नहीं रखा गया है कि एक ही दौर के रचनाकार होने के कारण हमेशा उनमें साम्य के कुछ बिंदु भी होंगे। दोनों पर ऐसे विचार किया जाता है मानो दोनों परस्पर विरोधी हैं। सही मायने में दोनों की कई धारणाएं अपने मूल रूप में समान हैं। हाँ, यहाँ यह भी स्मरणीय है कि उन धारणाओं का विकास और परिवर्धन दोनों आलोचकों ने अपने–अपने तरीके से किया है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में साम्यता की खोज करें तो कई महत्त्वपूर्ण बिंदु उभरकर सामने आते हैं। अज्ञेय ने टी.एस. इलियट के हवाले से यह बतलाया है – "कलाकार जितना ही संपूर्ण होगा उतना की उसके भीतर भोगने वाले प्राणी और रचने वाली मनीषा का पृथक्त्व स्पष्ट होगा।"[27] इसी प्रकार मुक्तिबोध ने भी लिखा है – "वास्तविक जीवन जीते समय, संवेदनात्मक अनुभव करना और साथ ही ठीक उसी अनुभव के कल्पना–चित्र प्रक्षेपित करना – ये दोनों कार्य एकदम एक साथ नहीं हो सकते। उसके मुझे घर जाकर विलीन होना पड़ेगा।"[28] इसका विश्लेषण करते हुए अज्ञेय इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं और लिखते हैं – "काव्य एक व्यक्तित्व का नहीं एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।"[29] इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "सामाजिक दृष्टि से तुम्हारा स्थान कुछ नहीं, इसलिए तुम अपने को हेठा या छोटा मत समझो। तुम एक मात्र एक संवेदनशील माध्यम हो। अपने को जाने या अनजाने हेठा या छोटा समझकर इस माध्यम को विकृत मत करो। अपने ही ईमानदार अनुभव संवेदनाओं को, तथा अपने जीवन के स्थायी भावों को प्रॉपर पर्सपेक्टिव (सही परिप्रेक्ष्य) में पहचानों।"[30]

इन तथ्यों को एक साथ रखने का यह कतई मतलब नहीं है कि इस मुद्दे पर अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही एक ही तरह से सोचते हैं। यदि ध्यान से देखा जाए तो सबसे पहले तथ्य या उद्धरण में अज्ञेय का बल 'पृथकत्व' पर है जबकि मुक्तिबोध 'विलीन' पर बल देते हैं। इसका कारण है कि अज्ञेय वैयक्तिक मुक्ति के साथ मुक्ति को मानते हैं, जबकि मुक्तिबोध ने सामाजिक मुक्ति के साथ मुक्ति को मानते हैं। यहां अज्ञेय और मुक्तिबोध की आलोचना–कर्म में साम्यता का पक्ष 'मुक्ति का सवाल' है।

अज्ञेय ने 'सर्जना और संदर्भ' में मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं के एक चयन 'स्वस्ति और संकेत' की भूमिका में वाचिक कविता और मुद्रित कविता की चर्चा की है। वाचिक कविता सुनी जाती है और मुद्रित कविता पढ़ी जाती है। इसी प्रसंग में अज्ञेय ने मैथिलीशरण गुप्त को वाचिक परंपरा का अंतिम बड़ा कवि कहा है। वे लिखते है – "वाचिक से मुद्रित तक का संक्रमण काव्य–यात्रा का केवल एक पड़ाव नहीं है, बल्कि वह काव्य के स्वभाव में परिवर्तन है, संप्रेषण की एक नई स्थिति और एक नई प्रक्रिया है, स्रष्टा और सामाजिक के बीच एक नये रिश्ते का आरंभ है। कवि 'लेखक' बनता है तो समाज 'जनता' बन जाता है।"[30] इसी से साम्यता रखते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "नयी कविता की शैली में जो कविता है उसमें तो आधुनिक संवेदना है, लेकिन अन्य में नहीं। उसमें आधुनिक भावबोध है। यह कविता पाठ्य है, श्रव्य नहीं।"[31] इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अज्ञेय और मुक्तिबोध का नई कविता के संदर्भ में यह दृष्टिकोण एक साथ साम्य प्रकट करता है।

अज्ञेय ने तीसरा सप्तक (तीसरा सप्तक) की भूमिका और अपने आलोचनात्मक निबंध संकलन 'आत्मनेपद' में काव्य का विषय और काव्य की वस्तु में अंतर स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं – "काव्य का विषय और काव्य की वस्तु अलग–अलग चीजें हैं, पर हिन्दी आलोचना पढ़कर बार–बार समझना पड़ता है कि इस बुनियादी बात को स्पष्ट कहने और दोहराने की आवश्यकता है। कभी कोई नया विषय लेकर भी वही पुरानी वस्तु भी दे सकता है, और पुराना विषय लेकर नयी वस्तु भी दे सकता है। इसलिए काव्य कैसा है, यह विचार करने के लिए विषय कैसा है, या क्या है, या नया है, या पुराना है अथवा नहीं है, इसकी परीक्षा उतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि उसकी वस्तु की परीक्षा।"[32] इसी प्रकार मुक्तिबोध काव्य–विषय और काव्य–वस्तु पर विचार करते हुए लिखते हैं – 'वस्तु' का क्या अर्थ है? क्या 'वस्तु' से हमारा अभिप्राय काव्य–विषय से है? किंतु विषय स्वयं अपने आप में काव्य का विषय नहीं होता। उदाहरण के लिए तुलसी का मानस और बाल्मीकि का रामायण, दोनों का विषय एक होते हुए भी, मेरे ख्याल से, दोनों के काव्यगत वस्तु तत्व अलग–अलग हैं। उषाकाल पर लिखी हुई दो कविताओं के वस्तु तत्व अलग–अलग हो सकते हैं, होते हैं। सच तो यह है कि काव्य का वस्तु–तत्व मनस्तत्व है जो कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है। ...संक्षेप में काव्य का विषय और काव्य की वस्तु इन दोनों में बहुत भेद है। 'विषय' शब्द का अर्थ व्यापक

है; 'वस्तु' का संकुचित।"[33] यदि देखा जाए तो मुक्तिबोध ने वस्तुतत्व को मनस्तत्व कहा है और अज्ञेय भी विवेचना करते–करते 'कृतिकार के मानस' तक पहुंचते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि काव्य विषय और काव्य वस्तु के संदर्भ में दोनों के विचारों में साम्य है। इसे अज्ञेय के इस कथन से स्पष्ट किया जा सकता है – "वस्तु का महत्त्व भी इसलिए है कि वह वस्तु मानवीय है और उसके सहारे हम कृतिकार के मन में पहुंचते हैं और उसकी परख करते हैं कि कैसे वह वस्तु तक पहुंचा, कैसे वह उसकी संवेदना ने ग्रहण किया और कैसे बहुजन–संवेद्य या प्रेषणीय बनाया।"[34] इसी संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "कला के वस्तु–तत्त्व वे अन्तर्त्त्व हैं जो बाह्य जीवन–जगत् के आत्मसात् किये हुए जीवन–मूल्यों द्वारा संयुक्त होकर मन की आँखों के सामने आलोकित और तरंगायित हो उठते हैं और जिनके बारे में यह प्रतीत होता रहता है कि वे अभिव्यक्ति के लिए अर्थात् कलात्मक बाह्यीकरण के लिए किसी–न–किसी प्रकार से महत्त्वपूर्ण हैं।"[35] इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि अज्ञेय और मुक्तिबोध में ध्रुवांतों का विरोध नहीं है, जैसा कि हिन्दी साहित्य में माना जाता रहा है। अंतर केवल उनके दृष्टिकोण में है। विषय एक ही है।

4.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में वैषम्य

अज्ञेय और मुक्तिबोध की आलोचना कर्म के सैद्धांतिक पक्ष में साम्यता पर विचार करने के बाद उनके वैषम्य पक्ष को देखना अति आवश्यक हो जाता है। वैषम्यता के कारण ही अज्ञेय और मुक्तिबोध को हिन्दी में दो सीमांतो की तरह देखा जाता रहा है। इसकी पृष्ठभूमि क्या रही है। इसकी जांच–पड़ताल करनी चाहिए। अज्ञेय प्रयोगवाद और नई कविता के प्रवर्तक हैं। इसके साथ ही वे आधुनिकता के संदर्भ में नवलेखन के केंद्र में भी हैं। अज्ञेय और मुक्तिबोध को लेकर हिन्दी में बहस तब शुरू होती है जब मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद उनके काव्य संकलन 'चांद का मुंह टेढ़ा है' का प्रकाशन होता है। इसके बाद मुक्तिबोध हिन्दी में केंद्रीय रचनाकार और आलोचक के रूप में स्थापित होने लगते हैं। इन बहसों में अज्ञेय और मुक्तिबोध में 'बड़ा कौन है' का सवाल प्रमुख है। यहां से इन दोनों रचनाकारों आलोचकों को लेकर दो गुट बन जाते हैं और आपस में बँट जाते हैं। वे अपने तर्कपूर्ण शक्ति से दोनों को प्रतिष्ठित करने की कोशिश करते हैं। इस शोध प्रबंध में दोनों आलोचकों की वैषम्यता की पड़ताल की कोशिश की गई है।

सही मायने में आधुनिकतावाद, जिसे अज्ञेय प्रयोगवाद में लाए थे, वह पश्चिम के संकुचित व्यक्तिवाद से प्रभावित था जिसे हमारे यहां के कवियों ने स्वीकार भी कर लिया था। हालांकि उस समय कवियों का एक वर्ग हमेशा इसका विरोध करता रहा। इसी व्यक्तिवाद से अलग परिवेश में आते ही साहित्य और कला की दृष्टि, उसके उद्देश्य और प्रतिमान भी बदल गए। इसी बदले हुए परिवेश और प्रतिमानों के बीच मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का उद्‌भव एवं विकास होता है। देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति में ही नहीं बल्कि लोकतंत्र और स्वतंत्रता के अर्थ भी बदल गये। ऐसे वातावरण में पूंजीवादी व्यवस्था के आधार पर खड़े लोकतंत्र के विरुद्ध विद्रोह स्वाभाविक था। ऐसे अनुभवों के बीच साम्यवाद में आस्था रखने वाले, रचनाकारों और रचनाओं का मुख्य विषय अन्याय और शोषण के विरुद्ध, सामाजिक विषमता से मुक्ति की कामना करने का केंद्र में आ जाना परिस्थिति के अनुकूल ही था।

जैसा कि पहले ही अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म में साम्यता के पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि अज्ञेय को मुक्तिबोध की चिंतन प्रक्रिया का विरोध करने का

कभी प्रत्यक्ष आवश्यकता नहीं जान पड़ती, लेकिन मुक्तिबोध ने अज्ञेय की मानसिकता से प्रभावित नई कविता की काव्य प्रवृत्तियों का स्पष्ट विरोध नहीं किया है। उन्होंने नई कविता के कवियों को दो वर्गों में बाँटकर देखा है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "हिन्दी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक उच्च–मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न–मध्यवर्गीय जन, इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यंतरीकरण ये दो वर्ग करते आ रहे हैं उसमें बड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की भावनाएं एक–दूसरे से जुदा हो गई हैं। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक रूपों में प्रस्तुत हो रही है।"[36] मुक्तिबोध के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि उन्होंने तत्कालीन विभक्त धाराओं को समझकर अपना रास्ता चुना था। मुक्तिबोध निम्न मध्यवर्गीय जन समुदाय से जुड़ गये। इसी प्रतिबद्धता के साथ उन्होंने आत्मसंघर्ष को विस्तार दिया। जबकि अज्ञेय का रास्ता शुद्ध कविता और जीवन के समानान्तर निर्मित होता है।

ध्यान देने वाली बात है कि दोनों आलोचकों की मानसिकताएं भिन्न–भिन्न हैं, जिनका कारण उनका कवि रूप और काव्य संवेदना है। इनमें गहरा अन्तर है। यही नहीं उनकी पृष्ठभूमि और प्रेरणा भी अलग–अलग है। 1933–1940 के समय यह रोमांटिकता की सीमा से निकलकर बौद्धिकता का आग्रह करते दिखाई पड़ते हैं। उल्लेखनीय है कि उस समय हिन्दी का साहित्यिक परिवेश मार्क्स और फ्रॉयड की विचारधाराओं से प्रभावित था। अज्ञेय और मुक्तिबोध इन्हीं दो अलग विचारधाराओं का विकास करते हैं। यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय, जहाँ मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित रहे वहीं मुक्तिबोध मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव ग्रहण करते हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध साहित्य में विचारधारा को प्रमुख विषय मानते हैं साथ में विचारधारा में व्यक्ति–विवेक स्वातंत्र्य को महत्त्व देते हैं। इसका कारण है कि दोनों बदलती हुई भूमिकाओं के आलोचक हैं। व्यक्ति स्वातंत्र्य विवेक का बल अज्ञेय की आलोचना में अधिक है जबकि मुक्तिबोध मार्क्सवाद की विचारधारा से प्रतिबद्ध थे जिससे उनकी आलोचना प्रक्रिया की नई दृष्टि मिली थी। मुक्तिबोध मार्क्सवाद की व्याख्या आसपास की चीजों को देखकर अनुभूत वास्तविकताओं के आधार पर करते हैं। गंगाप्रसाद विमल इस विषय में लिखते हैं – "सुमन, शील और अली सरदार जाफरी ने यथार्थग्राही दर्शन को कोरा नारा बना

दिया है। नागार्जुन ने उसे ठोस राजनीतिक सवाल बना दिया है। त्रिलोचन ने स्वतंत्रता के बाद सक्रिय दर्शन से अलग हटकर सनातनी प्रश्नों से मार्क्सवाद को उलझाना चाहा। मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद के विचारधारा के इस एकांगी निष्कर्ष को अपने चिंतन से समझाने की कोशिश की।"[37] मुक्तिबोध की यह प्रतिबद्धता शोषित वर्ग के लिए है, किंतु अज्ञेय, वर्गीय चेतना का विरोध करते हैं और सामाजिक प्रतिबद्धता को सीमित अर्थों में स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं – "मैं अब साहित्यकार हूँ तब संप्रेषण का तो मैंने व्रत ले लिया है। यह मेरा उत्तरदायित्व है कि मैं दूसरों तक पहुँचू, दूसरे तक मूल्य–बोध पहुंचाऊँ। जिनके बारे में मेरा सहज विवेक मुझे आश्वस्त करता है कि ये मूल्य उस पूरे समाज के जीवन को गहरा, समर्थ और अर्थवान बना सकते हैं। उन मूल्यों को संप्रेषण का उनकी चेतना को जगाने का मेरा अक्षुण्ण अधिकार और अपरिहार्य कर्त्तव्य ही मेरी सामाजिक प्रतिबद्धता है। यह प्रतिबद्धता किसी वर्ग, दल, समूह अथवा प्रतिष्ठान के हित अथवा सत्ता से निरपेक्ष है।"[38] इस कथन से स्पष्ट है कि अज्ञेय समाज की समस्याओं को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखते हैं। वे कविता में राजनीति का विरोध करते हैं। अज्ञेय सामाजिक प्रतिबद्धता को सिद्ध करने के लिए संप्रेषण को केंद्र में रखते हैं। लेकिन सवाल है कि समाज के अन्तर्गत केवल पाठक समाज ही तो नहीं आता है। उसमें सामान्य जनजीवन भी शामिल होता है। इसी सामान्य जनजीवन की बात मुक्तिबोध करते हैं।

अज्ञेय जब कविता में सेंसर्स लगाते हैं तब उनकी आलोचना दृष्टि की व्यापकता कम हो जाती है। वहीं मुक्तिबोध कविता को सीमित दायरे से निकालकर व्यापकता में लाते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं – "मनुष्य जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो।"[39] यही कारण है कि मुक्तिबोध ने राजनीति का साहित्य से कोई विरोध नहीं माना। राजनीति के संदर्भ में वे लिखते हैं – "जनता की राजनीति और जनता के साहित्य का स्रोत एक ही है और वह है – आज का यथार्थ। आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है; जिसे समझने के लिए इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों को तीव्र करना जरूरी हो, यदि हमारी काव्य प्रेरणा वस्तुतः जनजीवन से उद्‌भूत हुई हो तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियों और कष्टों के कारण भी हमारी अनुभूति क्षेत्र का अंग ही होगा। राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न है, उनका मूल एक ही है। आज का यथार्थ यानी जनजीवन का यथार्थ, उसके तथ्य अभिप्रेत और उसके संघर्ष।"[40] यही पक्ष अज्ञेय की आलोचना में कम है।

जब मुक्तिबोध 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' की बात करते हैं तो उनका उद्देश्य नई कविता की असंगतियों के विरुद्ध आत्मीय संघर्ष ही है। मुक्तिबोध का विरोध नई कविता की आत्मकेन्द्रित और व्यक्तित्ववादी विचारधारा के प्रति ही रहा है। इसका कारण यह था कि यह विचारधारा उन सभी मामलों पर चुप रहती थी जो समाज के पक्ष में राजनीतिक हितों से टकराती थी। मुक्तिबोध मानव जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं को अभिव्यक्ति देना चाहते थे। प्रगतिवादी चिंतकों से भी उनकी हमेशा शिकायत रही। वे लिखते हैं – "प्रगतिवादी कवियों ने मनुष्य जीवन का केवल राजनीतिक पक्ष उठाया। उसने संपूर्ण मनुष्य को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया।"[41] मुक्तिबोध ने नई कविता और प्रगतिवाद दोनों से अलग रचनाकार की स्वतंत्र हैसियत से रास्ता बनाया। जो व्यक्ति और समाज को एक सही दिशा देता था। उसकी काव्य वस्तु राजनीतिक भावबोध से सम्पन्न होकर भी व्यापक जीवन में पाये जाने वाले भयानक संघर्ष से संबद्ध थी। मुक्तिबोध साहित्य में एक पक्षीय अतिरेकों के विरोधी रहे हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं – "जो लोग साहित्य का सिंहावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपनी इति कर्तव्यता समझ लेते हैं वे एक पक्षीय अतिरेक करते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक–सौन्दर्यात्मक विवेचना की एकात्मकता रहे।"[42] कामायनी : एक पुनर्विचार के संदर्भ में स्पष्ट किया जा चुका है कि मुक्तिबोध की काव्य धारणाएं त्रिकोण के सिद्धांत पर आधारित हैं जिसकी एक भुजा बाह्य जगत, दूसरी भुजा आंतरिक जीवन और तीसरी भुजा आधार चेतना है। इस प्रकार आंतरिक जीवन और बाह्य जगत् का सामंजस्य और द्वन्द्व ही उनके लिए काव्यालोचना है।

अज्ञेय अपने काव्य में आंतरिक जीवन को ही प्रमुखता देते हैं। उनके लिए निजता से मुक्ति जरूरी नहीं है। वे निजता को कलाभिव्यक्ति देकर भी सुरक्षित रखते हैं। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा लिखते हैं – "अज्ञेय अहं के आलोकमण्डित दायरे से बाहर नहीं देखते – समाज की ही कोई जीवंत समस्या हो – राजनीति का दूषण, भाषा और शब्द की मर्यादा, काल का रहस्य, आधुनिक संस्कृति का अंतर्द्वन्द्व – अनेक विषयों पर मर्मभेदी दृष्टि डाली है। इसके बावजूद उनकी इन पुस्तकों को पढ़ते हुए बराबर खीज की किरकिरी चुभती है। क्या है इस खीज का कारण? अज्ञेय अंततः सब कुछ कहने के बाद उस हद पर आकर रुक जाते हैं जहाँ से कलाकार का चिंतन शुरू होता है।"[43]

अज्ञेय ने भी समाज की समस्याओं पर विचार किया है, लेकिन उनके साहित्य में वह अपेक्षाकृत कम है। मुक्तिबोध निजी सत्य को सामान्य सत्य में रूपांतरित करने के लिए लगातार संघर्ष करते हैं। दोनों आलोचकों की चिंतन–प्रक्रिया का प्रभाव उनकी रचनाओं की रचना–प्रक्रिया में भी देखा जा सकता है। मुक्तिबोध आत्मग्रस्तता के कटघरे से और मानवीय अधिकारों के बारे में हमेशा सचेत रहे हैं। यही दोनों उन्हें आलोचना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करता है। मुक्तिबोध की रचना–प्रक्रिया के विषय में केदारनाथ सिंह लिखते हैं – "अपने अन्य समकालीन कवियों की परिधि से मुक्तिबोध का काव्य यदि कुछ अलग दिखाई पड़ता है तो इसीलिए कि उन्होंने सृजन के स्तर पर कला के संघर्ष को अस्तित्व के संघर्ष से एकाकार कर लिया था। आज का नया रचनाकार उनके काव्य के इस पक्ष को नई मान्यताओं के अनुकूल पाता है। नये कवियों के बीच मुक्तिबोध की बढ़ती लोकप्रियता का एक कारण शायद यह भी है।"[44]

अज्ञेय सौंदर्यानुभूति को जीवन से अलग मानते हैं। उनके अनुसार जीवन की भुजा और सौंदर्य की भुजा समानान्तर चलती है। इनका कोई मिलान बिंदु नहीं होता। इसी प्रकार की सौंदर्यानुभूति को मुक्तिबोध ने 'जड़ीभूत' सौंदर्याभिरुचि' कहा है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को सीमित रखती है। सौंदर्याभिरुचि का विरोध करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "नये महोदयों का यह सौंदर्यवाद, कलाकार की क्षणजीवी सौंदर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिंदु में ही उसे समेटकर बांधकर रखना चाहता है। ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और समस्त अंतःजीवन की प्राणधाराओं को भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिंदुओं में अपने आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जाए या उस शेष को महत्त्व ना दे। संक्षेप में यह एक प्रकार का क्षणवाद है।"[45] इस प्रकार मुक्तिबोध क्षणवाद का विरोध करते हैं। वे सौंदर्य को वास्तविक जीवन की संपूर्णता में स्वीकार करते हैं। उन्होंने इसका मूल्यांकन अपने तीखे सामाजिक दृष्टिकोण से किया है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं – "यह सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है। विशेष वर्ग ने विशेष परिस्थिति में ही सौंदर्याभिरुचि को अंगीकार किया है। इस अभिरुचि के अंतर्गत सेंसर काफी सक्रिय है। उस मध्यवर्गीय सौंदर्याभिरुचि के अधीन ही निम्नमध्यवर्गीय कविजन जाने–अनजाने उस फ्रेम के कारण सेंसर लगाते रहते हैं।"[46] मुक्तिबोध ने इस प्रकार की सौंदर्याभिरुचि का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए लिखा

है – "स्वाधीनता प्राप्ति के बाद (उपरांत) भारत में एक ओर अवसरवाद की बाढ़ आई। शिक्षित मध्यम वर्ग में भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रभाव में बहे और खूब बहे। भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में नई कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किए और कुछ सिद्धांतों की एक रूपरेखा तैयार की गई। ये सिद्धांत और हमले उस शीतयुद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लंदन और वाशिंगटन से ली गई थी। पश्चिम के परिपक्व मानववादी परंपरा से साहित्यिक विचारधारा को अपनाया फैलाया।"[47]

नई कविता में आधुनिकता का आंदोलन एक क्रांतिकारी विचारधारा लेकर आया था, परन्तु इस आधुनिकता का सम्बन्ध आधुनिकतावाद से अधिक था। अब सवाल यह उठता है कि क्या अज्ञेय उस समय के यथार्थ से परिचित नहीं थे? आधुनिक युग की जटिलताओं को उन्होंने नहीं समझा था। इस सवाल के जवाब में हम पाते हैं कि अज्ञेय ने आधुनिक युग की जटिलताओं को समझा तो था, परंतु उनका मुख्य उद्देश्य कल्पना सत्य के स्थान पर व्यक्ति सत्य को प्रतिष्ठापित करना था और प्रगतिवादी वामपंथी विचारधारा के विरुद्ध होने के कारण उनकी व्यक्तिवादी धारणा पश्चिमी वादों के प्रवृत्तियों पर आधारित हो गई थी। अज्ञेय आधुनिकता के विषय में लिखते हैं – "आधुनिकता संस्कारवान होने की प्रक्रिया का नाम है।"[48]

अज्ञेय जब आधुनिकता पर विचार करते हैं तब उसे वे अतीत में रखकर देखते हैं। तकनीक और रूप की दृष्टि से आधुनिकता और प्रयोग पर बल देते हैं। अज्ञेय के आधुनिक–भावबोध के केंद्र में व्यक्ति चेतना है। जबकि मुक्तिबोध ने आधुनिक भावबोध के केंद्र में वर्ग–संघर्ष को रखा। मुक्तिबोध जब अपने को आधुनिकतावादी कहते हैं, तब वे समकालीन परिवेश में मानव की सत्ता को विस्तृत नहीं करते हैं। मुक्तिबोध आधुनिकता को लेकर नई वैज्ञानिक दृष्टि के हिमायती थे। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञेय की आधुनिकता की धारणा व्यर्थ थी। बल्कि इस अवधारणा के माध्यम से अज्ञेय ने तो हिन्दी साहित्य को एक नया मोड़ दिया। आधुनिकता के संदर्भ में मुक्तिबोध ने भी कई अतिरंजित वक्तव्य दिए हैं। वे आधुनिकता को भी वर्गीय संघर्ष में बाँटकर देखते हैं – "मैं अपनी खुद की जिंदगी और दोस्तों के तजुर्बे से बता सकता हूं कि अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करना ही आधुनिक भावबोध के अंतर्गत है। ...और इस आधुनिकतावाद में उन शोषणकारी, उत्पीड़नकारी शक्तियों

का बोध शामिल नहीं है जिन्हें हम शोषक कहते हैं। अंततः मुक्तिबोध वांछित उद्देश्यों की दृष्टि से अपनी ही बात कहते दिखाई देते हैं। इसका कारण भी है कि वे अन्याय के विरुद्ध सही मायने में संघर्ष कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने सभी साहित्यिक प्रवृतियों का डटकर मुकाबला किया। इसी कारण मुक्तिबोध की आधुनिकता की धारणा में फैशनपरक अनुकरण नहीं दिखाई देता।"[49]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अज्ञेय के आधुनिकतावाद ने हिन्दी काव्य और आलोचना को नया मोड़ दिया और आगे भी उसका प्रभाव रहा, लेकिन पश्चिमी व्यक्तिवादी धारणा के कारण और लोकजीवन से अलग होने के कारण उनका दायरा अपेक्षाकृत छोटा हो गया। मुक्तिबोध की आधुनिकता सामान्य जनजीवन और उसकी समस्याओं से जुड़ने के कारण नई परंपरा गढ़ने की सामर्थ्य रखती है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य को लेकर दोनों आलोचकों में रस्साकशी है। व्यक्ति स्वातंत्र्य नई कविता की एक प्रवृत्ति है। इसको लेकर दोनों आलोचकों के लिए व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ अलग–अलग है। अज्ञेय की व्यक्ति स्वातंत्र्य की धारणा पश्चिम के सिद्धांतों पर आधारित है। वे लिखते हैं – "कोई दार्शनिक या तार्किक पद्धति समाज या राष्ट्र की स्वतंत्रता को एक चरम मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सकती, अगर वह व्यक्ति स्वातंत्र्य के अपरहण का अनुमोदन करती है।"[50]

मुक्तिबोध पश्चिम के व्यक्ति स्वातंत्र्य और गरीब देश के व्यक्ति–स्वातंत्र्य में अंतर करते हैं। वे लिखते हैं – "स्पष्ट है कि मुनाफाखोरों और उत्पीड़कों के व्यक्ति स्वातंत्र्य के लक्ष्य और जनता के व्यक्ति स्वातंत्र्य के लक्ष्य में अंतर है। जी नहीं, केवल अंतर ही नहीं विरोध भाव भी है। केवल विरोध भाव ही नहीं विपरीत दिशाएं भी हैं।"[51] मुक्तिबोध के अनुसार व्यक्ति स्वातंत्र्य का सवाल जनता के जीवन से है। उसका सीधे–सीधे सम्बन्ध मानवोचित आकांक्षाओं से है।

अज्ञेय की रचना–प्रक्रिया और आलोचना प्रक्रिया में भीड़ के प्रति भय की स्थिति बराबर बनी रहती है, जबकि मुक्तिबोध भीड़ को हमेशा एक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। भीड़ से उन्हें कोई आत्मघाती भय नहीं। इसी कारण वे लघुमानवतावाद के सिद्धांत का

विरोध करते हैं। उनका मानना है कि यह अवधारणा व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष बनाती है। वे लिखते हैं – "हम लघुमानव हैं, जनसाधारण नहीं, क्योंकि आदर्शों ने हमें दगा दिया है; छल–प्रवंचना की है और इसीलिए हम लघु–प्रयत्नों द्वारा उन्नति और विकास करते हैं। जनता भीड़ है उसकी आत्मा नहीं होती, उसे जिधर हांको हक जाती है। चेतन व्यक्ति तो आत्मतंत्री है। इसीलिए उसका कर्त्तव्य है कि वह भीड़ का हिस्सा न बने।"[52]

कलाकार रचना–प्रक्रिया के आत्मसंघर्ष में आत्माभिव्यक्ति करता है। वह आत्माभिव्यक्ति के साथ उसका अन्वेषण भी करता है। इसी को अज्ञेय आत्मान्वेषण और व्यक्तित्व की खोज का नाम देते हैं जबकि मुक्तिबोध रचना–प्रक्रिया को सिर्फ खोज ही नहीं ग्रहण के रूप में स्वीकार करते हैं। रचना–प्रक्रिया के आत्म संघर्ष में रचनाकार अज्ञात वास्तविकता की खोज करता है। इसे मुक्तिबोध ने एक उपमा चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया है – "वीरान मैदान, अंधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्दिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले उद्‌घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों–ज्यों वह बढ़ता जायेगा, थोड़ा–थोड़ा उद्‌घाटन होता जायेगा। चलने वाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्‌घाटित होगा? उसे अपनी पीली मद्दिम लालटेन का ही सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्‌घाटन होना है और वह भी धीरे–धीरे क्रमशः। वह यह नहीं कह सकता कि वह किस और घूमेगा? या उसे किन घटनाओं का वास्तविकताओं का सामना करना पड़ेगा? कवि के लिए, इस पथ पर आगे बढ़ते जाने का ही काम महत्त्वपूर्ण है। यह उसका साहस है। ... इस रास्ते पर बढ़ने के लिए उसे निःसंदेह आत्म संघर्ष करना पड़ता है। केवल एक लालटेन के सहारे चलना है।"[53]

इस उद्धरण में मुक्तिबोध ने जिस लालटेन की ओर संकेत किया है वह सही मायने में रचनाकार के आंतरिक उद्देश्यों की ओर ध्यान दिलाना है। जिसके माध्यम से रचनाकार अज्ञात वास्तविकता की खोज करता है। मुक्तिबोध की तरह ही इलियट भी लिखते हैं – "कवि अज्ञात वास्तविकता की खोज करता है। अतः कविता को पहले से बनाई हुई किसी रूपरेखा में नहीं पाया जा सकता।"[54] हालांकि दोनों आलोचकों के सिद्धांतों में तकनीकी रूप से अंतर है। दोनों के अनुसार कवि अपने आत्मसंघर्ष में अज्ञात वास्तविकता की खोज करता है। लेकिन उसके आंतरिक उद्देश्य भिन्न हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं – "काव्य की रचना–प्रक्रिया

के अंतर्गत तत्व, बुद्धि, भावना, कल्पना इत्यादि एक होते हुए भी प्रभाव, संगठन और आंतरिक उद्देश्यों की भिन्नता के कारण रचना–प्रक्रिया बदल जाती है।"[55] हमें इस बात को अज्ञेय और मुक्तिबोध के संदर्भ में रखकर देखनी चाहिए। मुक्तिबोध की दृष्टि में रचना प्रक्रिया वह है जिसमें कवि की मनोमय भूमि तैयार होती है जबकि इलियट और अज्ञेय कविता के पहले की नियोजना को अस्वीकार करते हैं। ये तीनों ही आत्मसंघर्ष का रास्ता अपनाते हुए भिन्न प्रकार की खोज करते हैं। मुक्तिबोध के लिए यह वास्तविकता सामाजिक संदर्भ में खोजा गया मानव सत्य होगा और अज्ञेय के लिए अद्वितीय रहस्यवादी विशिष्ट सत्य होगा।

मुक्तिबोध काव्य के कथ्य और रूप को अलग नहीं मानते और इसका मतलब यह नहीं कि उन्होंने शिल्प को कमतर माना है। बल्कि इसमें प्रयासरत रहने वालों के समर्थक हैं। जबकि अज्ञेय का मानना है कि कविता कविता से निकलती है। आत्मभिव्यक्ति द्वारा रचनाकार रूप की रचना करता है। कविता के मूल्य को उसके रूप से अलग नहीं किया जा सकता है। अज्ञेय और मुक्तिबोध की काव्य भाषा का अंतर उनकी काव्यालोचना की मूल संवेदना का ही परिणाम है। अज्ञेय की कविता में भाषा की तराश है जबकि मुक्तिबोध की भाषा में छील–छाल है। इसके संदर्भ में निर्मल वर्मा लिखते हैं – "अज्ञेय के काव्य में अर्जित किये हुए सत्य तो मिलते हैं, लेकिन सत्य को तलाशने की अन्तर्पीड़ा, पिपासा, संदेह, मन को दुखाती मैल, मैल के भीतर के सूरज को बार–बार छिपा लेती है। इन झूठों का कातर सत्य, उस सत्य को मथने वाला क्रूर आत्मवेदी विश्लेषण के अभाव में उनकी पीड़ा भी एक निजी थाती, एक भोग की वस्तु बनकर रह जाती है। जिस यातना और अकेलेपन की चर्चा अज्ञेय करते हैं, वह आगे बढ़कर हमें उत्प्रेरित नहीं करती है, आत्मा की टीस बनकर टिपटिपाती नहीं, झकझोरती नहीं, सिर्फ अज्ञेय की अर्जित मूल्यवान प्रेशंस अनुभूति बनकर रह जाती है।"[56] अज्ञेय की भाषा इसीलिए अप्रासंगिक हो गई क्योंकि समकालीन कवि उसमें तराश को पाते हुए भी शब्द की उस विशेषता का अभाव पाते हैं जिसके अर्थ कालबद्ध नहीं होते; बल्कि युग के संदर्भों के साथ और अर्थवान् हो सकते। फिर भी हम देखते हैं कि मुक्तिबोध की भाषा ऐसी नहीं है कि वह जनभाषा के रूप में संप्रेषित हो सके। फैंटेसी शिल्प पद्धति और संस्कृतगर्भित शब्दावली अपनाने के बावजूद मुक्तिबोध समकालीन तथा युवा कवियों के संदर्भ कैसे बन जाते हैं? और वही प्रयोगवाद और नई कविता के प्रवर्तक अज्ञेय कैसे पीछे छूटते

जाते हैं? उसका यही कारण हो सकता है कि कविता में भाव चेतना के अनुरूप ही भाषा की आवश्यकता पड़ती है। मुक्तिबोध संवेदना के अनुरूप ही भाषा का निर्माण करते हैं। इस संदर्भ में अशोक चक्रधर लिखते हैं – "भाषण निर्माण का अर्थ अपरिचित शब्दों को गढ़ना नहीं, बल्कि दी गई भाषा के अंगभूत पुराने शब्दों को नये अर्थ प्रदान करना होता है। क्योंकि संप्रेषण की धारणा उसके मूल से बनी है।"[57]

संदर्भ ग्रंथ

1. कविता के तीन दरवाजे – अशोक वाजपेयी, पृ. 55
2. रसमीमांसा – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 58–59
3. नई कविता का आत्म संघर्ष – ग.मा. मुक्तिबोध, पृ. 8
4. आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 28–29
5. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ. 126
6. हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी – निर्मला जैन, पृ. 84
7. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 20
8. मुक्तिबोध रचनावली–4, पृ. 65
9. कवि दृष्टि – अज्ञेय, पृ. 101
10. मुक्तिबोध रचनावली–4, पृ. 137
11. आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 122
12. मुक्तिबोध रचनावली–4, पृ. 107
13. निबंध संकलन – मैनेजर पाण्डेय, पृ. 166
14. वही, पृ. 167
15. वही, पृ. 171
16. एक साहित्यिक की डायरी – ग.मा. मुक्तिबोध, पृ. 133
17. निबंध संकलन – मैनेजर पाण्डेय, पृ. 166
18. नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र – ग.मा. मुक्तिबोध, पृ. 59
19. आधुनिक हिन्दी की प्रवृत्तियां – नामवर सिंह, पृ.
20. वही, पृ.
21. सन्नाटे का दर्द – अज्ञेय, पृ. 64–65
22. अपने अपने अज्ञेय, खण्ड 1 – सं. ओम थानवी, पृ. 24
23. वही, पृ. 468
24. शिखर से सागर तक – रामकमल राय, पृ. 638
25. हिन्दी आलोचना की बीसवी सदी, पृ. 84
26. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 20
27. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ. 67
28. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 29
29. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ. 65
30. कवि दृष्टि – अज्ञेय, पृ. 101
31. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ. 137
32. आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 122
33. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5 पृ. 107
34. आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 123

35. मुक्तिबोध रचनावली, पृ. 112
36. वही, पृ. 215
37. गजानन माधव मुक्तिबोध का काव्य संसार – गंगा प्रसाद विमल, पृ. 84
38. धार और किनारे – अज्ञेय, पृ. 146
39. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 342
40. नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र – मुक्तिबोध, पृ. 35
41. मुक्तिबोध रचनावली, भाग 5, पृ. 136
42. वही, पृ. 89
43. कला और जोखिम – निर्मल वर्मा, पृ. 80
44. कविता के नए प्रतिमान – डॉ. नामवर सिंह, पृ. 115
45. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 165
46. वही, पृ. 342
47. वही, पृ. 36
48. आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 29
49. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 333
50. आत्मपरक – अज्ञेय, पृ. 142
51. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 175
52. वही, पृ. 177
53. वही, पृ. 213
54. दस्तावेज – विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 5
55. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 209
56. कला का जोखिम – निर्मल वर्मा, पृ. 80
57. मुक्तिबोध की काव्य प्रक्रिया – अशोक चक्रधर, पृ. 159

अध्याय–पाँच

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का व्यावहारिक पक्ष : साम्य-वैषम्य

5.1 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना के प्रस्थान बिन्दु

5.2 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में साम्य

5.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में वैषम्य

5.1 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना के प्रस्थान बिन्दु

रचना और आलोचना का सम्बन्ध अत्यंत जटिल है। रचना का अवलोकन, परीक्षण, मूल्यांकन और विश्लेषण करके आलोचना सिद्धान्त का निर्माण करती है। रचना अपनी सृजनात्मकता से आलोचना के सामने नये सिद्धान्त बनाने की चुनौती प्रस्तुत करती है। इसी सिद्धान्त और व्यवहार के बीच संपूर्ण साहित्य विस्तृत है। यह कहना गलत न होगा कि सिद्धान्तों का निर्माण व्यावहारिक अनुभवों से होता है और व्यावहारिक अनुभव का महत्त्व सिद्धान्त के रूप में दिखने लगता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में मुख्यतः सैद्धान्तिक आलोचना होती रही है। इसे आचार्य भरत से लेकर पंडित जगन्नाथ तक देखा जा सकता है। लेकिन उसी सैद्धान्तिक आलोचना के साथ–साथ व्यावहारिक आलोचना भी कहीं–कहीं हुई है। इस परम्परा को हिन्दी आलोचना में भी देखा जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर समकालीन आलोचकों तक सैद्धान्तिक आलोचना के साथ–साथ व्यावहारिक आलोचना भी चलती रही है। साहित्य दृष्टि को समझने के लिए अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना के साथ उनके व्यावहारिक आलोचना को समझना अति आवश्यक है। अज्ञेय और मुक्तिबोध के व्यावहारिक आलोचना के प्रस्थान बिन्दु की जाँच–पड़ताल करें तो इन्होंने भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल पर अपने अधिकतर विचार प्रस्तुत किये हैं। अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना के केन्द्र में रचना और लेखक दोनों ही हैं। इनका मूल्यांकन करते समय दोनों आलोचक निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखते हैं –

1. रचना की उत्पति के ऐतिहासिक–सामाजिक परिवेश
2. रचना की अन्तःप्रकृति
3. रचना के कलात्मक प्रभाव के विश्लेषण

'भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य विषय' पर हिन्दी आलोचना में के. दामोदरन, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, गजानन माधव 'मुक्तिबोध' तथा सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' आदि ने विचार किया है। यदि भक्ति आंदोलन और हिन्दी आचार्य की दृष्टि से विचार करें तो सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति आंदोलन के उदय का मुद्दा

उठाया। ग्रियर्सन ने इसका उदय ईसाइयत की देन से माना था। बाद में आचार्यों ने इसका खण्डन कर गलत साबित किया। भक्ति आंदोलन को उसके मूलवर्ती स्रोतों तक जाकर पहचानने का कार्य सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मध्यकालीन धार्मिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हुए भक्ति आंदोलन के उत्तर भारत में प्रसार के कारणों और स्रोतों का कुछ प्रमाण दिया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का एक कथन ही आगे चलकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पकड़ में आया और वह चर्चा और वाद–विवाद का कारण बन गया। भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था – "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके मंदिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं, और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ न कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलट–फेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[1]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भक्ति के उदय सम्बन्धी दृष्टि से साम्य रखते हुए अज्ञेय 'केशव की कविताई' निबंध में लिखते हैं – "राजनैतिक उथल–पुथल के कारण वीर काव्य का रुक जाना स्वाभाविक था। उसके बाद हारी हुई हिन्दू जनता के लिए भक्ति की ओर झुकना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि आंख फूट जाने पर किसी का सहारे के लिए दीवार या लकड़ी टटोलना। ... इस तरह भक्तिकाल शुरू हुआ। साथ ही सामाजिक कारण भी खड़े हुए – ऊँच–नीच और जात–पाँत के रीति रस्म पर लोगों का भरोसा कुछ कम होने लगा। इस तरह भक्ति मार्ग की कई धाराएं हो गयीं – सबने अपने–अपने आस–पास की जमी हुई रूढ़ियों को अपना लिया। जिससे रामभक्ति, कृष्णभक्ति, सूफी–मत वगैरह की अलग ढंग की कविता सामने आयी। ये सब जमाने की उपज थी।"[2] भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और अज्ञेय एक समान सोच वाले प्रतीत होते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस इतिहास दृष्टि की आलोचना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने की और भक्तिकाल तथा भक्तिकाव्य के उत्तर भारत में उदय को लेकर अपनी नई स्थापना दी। आचार्य शुक्ल की इस मान्यता का कि उतर में भक्तिकाल और भक्तिकाल का उदय इस्लामी आक्रमण से पराभूत और हताश हिन्दू जाति के पराजित मनोभाव का परिणाम है, इस पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कड़ी आलोचना की। वे हिन्दी साहित्य की भूमिका में लिखते हैं – "मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता, तो भी हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।"[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भक्तिकाल तथा भक्तिकाव्य के संदर्भ में मुक्तिबोध के विचार में भी साम्य प्रतीत होता है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्म शास्त्रवादी, वेद उपनिषदवादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार संतों ने और उसके प्रभाव मं रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।"[4]

मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के संदर्भ में तीन महत्त्वपूर्ण स्थापनाएं प्रस्तुत किए हैं। पहली, उन्होंने भक्ति आन्दोलन को मूलतः उच्च वर्गों तथा ऊँची कही जाने वाली जातियों के खिलाफ निम्न वर्गों तथा जातियों के आवश्यक विद्रोह के रूप में देखा हैं समय के तकाजे से भक्ति–आंदोलन में ऊँची जातियों के भक्तों तथा संतों का भी योग रहा और उन्हें निम्नवर्गों के लोगों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देनी पड़ी। दूसरी, भक्ति आंदोलन में ऊँच और नीच दोनों प्रकार के संतों और भक्तों का योग रहा, जहाँ तक सामाजिक भेदभाव तथा मानव एकता की मूलवर्ती आस्था का प्रश्न है इसमें निम्न कहे जाने वाले संतों का अधिक योगदान है। तीसरी, भक्ति आंदोलन में उच्च वर्ग का प्रभाव धीरे–धीरे प्रभावी होता गया और भक्ति आंदोलन के बिखरने और अपना वास्तविक प्रभाव खो देने का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। इस विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "शिवाजी स्वयं मराठा क्षत्रिय था, किन्तु भक्ति आंदोलन से जागृत जनता के कष्टों से खूब परिचित था और स्वयं एक कुशल संगठक और वीर सेनाध्यक्ष था। संत रामदास, जिसका उसे आशीर्वाद प्राप्त था, स्वयं सनातनी ब्राह्मण था, किन्तु नवीन जागृत जनता की शक्ति से खूब परिचित भी था। संत से अधिक वह स्वयं एक सामंती राष्ट्रवादी नेता था। तब तक कट्टरपंथी शोषक तत्त्वों में ये भावना पैदा हो गयी थी कि निम्नजातीय संतों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मणशक्तियाँ स्वयं उन्हीं संतों का

कीर्तन गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करते जा रहे थे, एक प्रकार से उन्होंने अपनी परिस्थिति से समझौता कर लिया था। दूसरे, भक्ति आंदोलन के प्रधान संदेश से प्रेरणा प्राप्त करने वाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे। रामदास, एक प्रकार से ब्राह्मणों से आये हुए अंतिम संत हैं। इसके पहले एकनाथ हो चुके थे। ... उन संतों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके संदेश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया और जातिवादी पुराण धर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।"[5]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के संदर्भ में अज्ञेय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के और मुक्तिबोध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निकट ठहरते हैं। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से भक्तिकाल और भक्तिकाव्य का प्रश्न अज्ञेय और मुक्तिबोध के लिए एक है, भले ही उसका उत्तर अलग–अलग हो।

भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के उदय के बाद अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना के केन्द्र में सगुण बनाम निर्गुण और कबीर बनाम तुलसी हैं। निर्गुण बनाम सगुण के संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारंभिक विकास कृष्ण भक्ति के रूप में हुआ। यह कृष्ण भक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति आंदोलन से प्रभावित थी। उच्चवर्गीयों का एक भावुक तबका भक्ति आन्दोलन से हमेशा प्रभावित होता रहा, चाहे दक्षिण भारत में हो या उत्तर भारत में।"[6]

कबीर और तुलसी का तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "साधारणजनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के संदेश से अधिक क्रांतिकारी था। तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्त्व स्वीकार करना पड़ा कि राम के सामने सब बराबर हैं, किन्तु चूंकि राम ने ही सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम और जातिवाद को तो मानना ही होगा।"[7]

तुलसीदास का मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "तुलसीदास के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न अत्यंत आवश्यक भी हैं। रामचरितमानसकार एक सच्चे संत थे, इसमें

किसी को भी कोई संदेह नहीं हो सकता। रामचरितमानस साधारण जनता में उतना ही प्रिय रहा है जितना कि उच्चवर्गीय लोगों में कट्टरपंथियों ने अपने उद्देश्यों के अनुसार तुलसीदास का उपयोग किया, जिस प्रकार आज जनसंघ और हिन्दू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया। सुधारवादियों की तथा आज की एक पीढ़ी को तुलसीदास जी के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा, यह भी एक बड़ा सत्य है।"[8]

तुलसीदास के रामचरितमानस का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "तुलसी की रामायण हिन्दी पढ़े–लिखों के लिए मानों उनकी पोशाक है। पोशाक के भीतर उनकी अपनी त्वचा तो है, पर पोशाक के बिना रहना शिष्टता से गिर जाना है। हिन्दी पढ़े–लिखों के लिए यह बड़े शर्म की बात है कि वे तुलसी की रामायण न पढ़े हों। और दोहे–चौपाई में लिखी हुई यह रामायण उन लोगों के जीवन का इतना बड़ा हिस्सा बन गई है कि इन छन्दों का नाम लेने के सिवाय उस रामायण के और किसी पुस्तक की याद नहीं आती।"[9]

'केशव की कविताई' निबंध में अज्ञेय भक्तिकाल के उदय और केशवदास के काव्य सौष्ठव का मूलयांकन किया है। भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में वे लिखते हैं – "राजनीतिक उथल–पुथल के कारण वीर काव्य का रुक जाना स्वाभाविक था। उसके बाद हारी हुई हिन्दू जनता के लिए भक्ति की ओर झुकना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि आंख फूट जाने पर किसी का सहारे के लिए दीवार या लकड़ी टटोलना।"[10] अज्ञेय का यह विचार आचार्य रामचंद्र शुक्ल से मिलता हुआ प्रतीत होता है। केशव के काव्य सौष्ठव का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय उनकी जटिल रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हैं, वे लिखते हैं – "पंडिताऊ (संस्कृत परम्परा) के कारण केशव की कविताएँ जटिल हैं। ... हिन्दी कविता उस जगह पहुंच गयी थी, जहाँ उसे एक शास्त्र की जरूरत थी। केशव ने इसका अनुभव किया और उसने पहले पहले हिन्दी काव्य को एक शास्त्र दिया।"[11]

अज्ञेय और मुक्तिबोध के भक्तिकालीन व्यावहारिक समीक्षा के बाद उनका आधुनिक काल के संदर्भ में की गयी समीक्षा अति महत्त्वपूर्ण है। इस काल के रचना और रचनाकारों को व्यावहारिक समीक्षा का विषय बनाया गया है। मुक्तिबोध ने मैथिलीशरण, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सुभद्राकुमारी चौहान, त्रिलोचन, रामधारी सिंह दिनकर, शमशेर बहादुर सिंह, भारत भूषण अग्रवाल, हरिवंशराय बच्चन, धर्मवीर भारती, हरिशंकर

परसाई, कुंवरनारायण और वीरेन्द्र कुमार आदि की रचनाओं का मूल्यांकन किया। इसके अलावा उन्होंने शेक्सपीयर और लू सुन की रचनाओं का भी मूल्यांकन किया। उसी प्रकार अज्ञेय ने मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, जैनेन्द्र, सुदर्शन, जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला, सियाराम शरण गुप्त, महादेवी वर्मा और हरिवंश राय बच्चन की रचनाओं पर समीक्षाएं लिखी।

'मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया' निबंध में मुक्तिबोध ने प्रेमचंद के प्रभाव और उनके साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार किया है। वे लिखते हैं – "मेरी मां जब प्रेमचंद की कृति पढ़ती, तो उसकी आंखों में बार–बार आँसू छलछलाते से मालूम होते और तब, उन दिनों मैं साहित्य का एक जड़मति विद्यार्थी मात्र मैट्रिक का एक छोकरा था। प्रेमचंद की कहानियों का दर्द भरा मर्म माँ मुझे बताने बैठती। ... प्रेमचंद के प्रति मेरी श्रद्धा व ममता को अमर करने का श्रेय मेरी माँ को ही है।"[12] मुक्तिबोध की दृष्टि में प्रेमचंद उत्थानशील भारतीय सामाजिक क्रांति के प्रथम और अंतिम महान कलाकार थे। प्रेमचंद के कथा साहित्य के नैतिक प्रभाव से वे मुग्ध थे। वे लिखते हैं – "प्रेमचंद का कथा साहित्य पढ़कर आज हम एक उदार और उदात्त नैतिकता की तलाश करने लगते हैं। कि प्रेमचंद के पात्रों के मानवीय गुण हममें समा जायें, हम उतने ही मानवीय हो जाएँ जितना कि प्रेमचंद चाहते हैं।"[13]

मुक्तिबोध के प्रिय कवि जयशंकर प्रसाद हैं। उनकी रचना 'कामायनी' का अध्ययन मुक्तिबोध ने बीस वर्षों तक किया। वे लिखते हैं – "पिछले बीस वर्षों से, मैं कामायनी का पठन–पाठन और अध्ययन करता आया हूँ।"[14] इससे कामायनी के प्रति मुक्तिबोध के लगाव को समझा जा सकता है।

सुमित्रानंदन पंत का मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध ने अन्य छायावादी कवियों निराला, प्रसाद और महादेवी का भी मूल्यांकन किया है। वे लिखते हैं – "वास्तविक जीवनानुभव की जितनी संपन्नता 'निराला' और 'प्रसाद' में है (महादेवी में भी) उतनी, उस हद तक, उस मात्रा में पंत जी के पल्ले नहीं पड़ी। इसीलिए उनका काव्य मात्र दृष्टि काव्य बनकर रह गया मर्म काव्य नहीं बन सका।"[15]

'सुभद्रा जी की सफलता का रहस्य' निबंध में सुभद्रा कुमारी चौहान का मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रथम भावोल्लास के काल में जिन कवि–वाणियों ने जनता को उत्स्फूर्त किया, उसे प्रेम और देश भक्ति के आवेग और

आह्लाद में सराबोर कर दिया, उनमें स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।"[16] सुभद्रा कुमारी चौहान के युगबोध और काव्य विषय के मौलिकता के विषय में वे लिखते हैं – सुभद्रा जी के साहित्य में जो स्वाभाविक प्रवाहमयी सरलता है – जो अहेतुक गंभीर मुद्रा का खटकता–सा लगने वाला अभाव है – उसका कारण है जीवन के उस मौलिक उद्वेग का योग; जिसने समाज में भिन्न–भिन्न रूप धारण किये। राष्ट्रीय आंदोलन उसका एक रूप था; उसकी एक अभिव्यक्ति थी स्त्रियों की स्वाधीनता का प्रश्न उसका दूसरा रूप। दलित जातियों का उत्थान तीसरा।"[17] इस निबंध में मुक्तिबोध ने सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं की काव्य संवेदना का भी मूल्यांकन किया है। जिसमें 'झांसी की रानी', 'जलियावाला बाग में बसंत' आदि राष्ट्रीय जागरण से संबंधित कविताएं प्रमुख हैं।

इसी निबंध में मैथिलीशरण गुप्त की काव्य संवेदना और सुभद्राकुमारी चौहान की काव्य संवेदना का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए वे लिखते हैं – "हिन्दी के आधुनिक कवियों में कदाचित् दो ही कवि हैं जिन्होंने वात्सल्य रस की भी कविताएं की हैं। मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा में इसके कुछ सुंदर उदाहरण मिलते हैं। उनसे कवि की भाव विदग्धता का परिचय होता है। कवि सहज सहानुभूति और काव्य–पात्र में तादात्म्य के द्वारा किन भाव चमत्कारों को उपस्थित कर सकता है, उसका नमूना वे वात्सल्य–रस की कविताएं हैं, परन्तु सुभद्रा जी की वात्सल्य–रस की कविताएँ उनके मातृभाव से उत्पन्न हैं। उसमें उनका मातृ–गर्व झलक उठता है।"[18]

त्रिलोचन की 'धरती' कविता की समीक्षा करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "इसी संघर्ष ने उसकी चेतना को मात्र विकसित ही नहीं किया है। उसे प्रसरणशील भी बनाया और जीवन के विविध अंगों को समझने की शक्ति भी दी। इस वैविध्य के प्रति संघर्षात्मक प्रसरणशील अनुरक्ति ने उसके मन को वस्तून्मुख और बुद्धि प्रधान भी कर दिया है। इसके कारण ही उसके काव्य में बेचैनी और विह्वलता नहीं है, बल्कि है एक विशेष प्रकार की तटस्थता है।"[19] मुक्तिबोध त्रिलोचन के काव्यसंग्रह की कविताओं पर विस्तार से विचार करते हुए लिखते हैं – "सारी कविताओं में कवि का गहरा आत्मविश्वास और सामाजिक लक्ष्य के प्रति ईमानदारी प्रकट होती है। यह मात्र ईमानदारी ही नहीं; प्रत्युत उसका जीवन दर्शन है।"[20]

रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' की समीक्षा करते हुए वे उसे कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित मानते हैं। उनके अनुसार वस्तुतः कवि अपनी कामात्मक स्पृहाओं को उचित ठहराना चाहता है इसी कारण उसने आध्यात्मिक रहस्यवाद का सहारा लिया है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "उर्वशी एक बृहत् कल्पना स्वप्न है, जिसके द्वारा और जिसके माध्यम से लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओं का आदर्शीकरण करता है और उन्हें एक सर्वोच्च आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। कथानक की ऐतिहासिकता केवल एक भ्रम है।"[21]

उर्वशी की आलोचना को लेकर आलोचकों में मतभेद रहा है। भगवतशरण उपाध्याय ने 'कल्पना' में दिनकर की 'उर्वशी' की आलोचना की थी। उनकी आलोचना और 'उर्वशी' पर 1964, जनवरी की 'कल्पना' में मुक्तिबोध की समीक्षात्मक टिप्पणी प्रकाशित हुई। उल्लेखनीय है कि कामायनी के बाद मुक्तिबोध ने अपनी व्यावहारिक आलोचना में उर्वशी पर सर्वाधिक लिखा। उर्वशी पर उनके दो लेख हैं, क्रमशः – पहला, 'उर्वशी : मनोविज्ञान' और दूसरा 'उर्वशी : दर्शन और काव्य'। इन लेखों में मुक्तिबोध ने उर्वशी के साथ–साथ कामायनी का भी हिस्सा शामिल किया है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात जो भगवतशरण जी ने की वह कामायनी के सम्बन्ध में है। उन्होंने राह चलते कामायनी की निन्दा कर डाली।"[22]

'शमशेर : मेरी दृष्टि' निबंध में मुक्तिबोध ने शमशेर की शिल्प दृष्टि और काव्य व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया है। मुक्तिबोध के अनुसार शमशेर शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के अद्वितीय कवि हैं। उनका मानना है कि 'निज के मौलिक विशेष' ने ही शमशेर के मौलिक शिल्प को विकास की ओर अग्रसर किया है। शमशेर का काव्य– व्यक्तित्व और शिल्प एक–दूसरे से अटूट सम्बन्ध रखते हैं। वे एक ऐसे समर्पित कवि हैं, जिनकी आत्मा ने अनेक असुविधाओं और कठोर उपेक्षाओं के बावजूद, संसार की परवाह न करते हुए, सस्ती ख्याति के चक्कर में न पड़कर, जो अभिव्यक्ति–शिल्प तैयार किया है, वह हिन्दी साहित्य की अनूठी देन है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है।"[23]

कुंवर नारायण की रचना 'परिवेश–हम तुम' की समीक्षा 'अंतरात्मा की पीड़ित विवेक चेतना' निबंध में करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "कुंवर नारायण की कविताएं उस विशेष तनाव से उत्पन्न हैं जो आत्म और बाह्य के द्वन्द्व के कारण उपस्थित होता है।"[24]

वे आगे लिखते हैं – "कुंवर नारायण की कविता अन्तरात्मा की पीड़ित विवेक चेतना और जीवन की आलोचना है। ... वे मूलतः आदर्शवादी कवि हैं। उन्होंने अपना एक शिल्प विकसित कर लिया है जिसमें कहने की सादगी, संवेदन की तीव्रता, रंगों की गहराई और ख्यालों की लकीरें साफ–साफ उभर कर आती हैं।"[25]

'ओ प्रस्तुत मनः एक समीक्षा' निबंध में मुक्तिबोध ने भारत भूषण अग्रवाल की काव्य संवेदना का मूल्यांकन किया है। मुक्तिबोध ने धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षा की है। वे लिखते हैं – "पहली बात जो बार–बार दिमाग से टकराती है, वह यह कि श्री भारती ह्रास के लक्षणों को उसके कारणों से कन्फ्यूज कर देते हैं। नैतिक गिरावट स्वयं एक लक्षण है, जो अन्य घटनाक्रमों या अन्य मानसिक विकास दृश्यों का कारण हो सकती है किन्तु इस गिरावट का कारण व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक है या ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय? इस प्रश्न पर या तो श्री भारती ने विचार नहीं किया या विचार करके छोड़ दिया, उसकी तह में नहीं गये। स्पष्ट रूप से कहा जाय तो श्री भारती सभ्यता की आलोचना तो करते हैं किन्तु समाजशास्त्रीय जिज्ञासा के अभाव के शिकार होकर।"[26]

हरिशंकर परसाई के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "परसाई का सबसे बड़ा सामर्थ्य संवेदनात्मक रूप से यथार्थ का आकलन है, चाहे वह राजनीतिक प्रश्न हो या चरित्रगत। हमारे यहाँ की साहित्यिक संस्कृति ने सच्चाई के प्रकटीकरण पर जो हदबंदी करके रखी है, उसे देखते हुए परसाई जी की कला सहज ही वामपंथी हो जाती है।"[27]

हरिवंशराय बच्चन का मूल्यांकन 'आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ' निबंध में मुक्तिबोध ने किया है। यथार्थवादी दृष्टिकोण होने के कारण मुक्तिबोध बच्चन जी की भावनात्मकता को उचित मानते हैं। वे लिखते हैं – "जब बच्चन की अतार्किक कल्पना विगत भावनापूर्ण दृष्टि से बाह्य को देखा, तब सुख मिटने वाला देखा और दुःख अगाध देखा। संसार की इस स्थिति से उनका कवि–हृदय व्यापक हो गया। दुखियों के प्रति सहानुभूति की गहराई जितनी अधिक मुझे 'बच्चन' में दिखलाई दी, उतनी मुझे खेद है छायावादी न दिखला सके। ... 'निशा–निमंत्रण' इस दृष्टि से अत्यंत सुंदर काव्य है। अपने दुःख से पीड़ित होकर 'बच्चन' ने संसार के दुःख के दर्शन किये।"[28]

अज्ञेय की आलोचना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अवदान उनकी व्यावहारिक आलोचना है। प्रेमचंद, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्र, फणीश्वरनाथ रेणु और दिनकर के रचना कर्म की विशेषताओं का मूल्यांकन अज्ञेय ने किया। इनके अलावा हजारी प्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्णदास सरोजिनी नायडू, हरिवंश राय 'बच्चन' और महादेवी वर्मा की रचनाओं पर अज्ञेय ने व्यावहारिक समीक्षाएं लिखी।

अज्ञेय ने अपना काव्य गुरु मैथिलीशरण गुप्त को माना। उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त को 'प्रसन्न आधुनिक' भी कहा है। अज्ञेय लिखते हैं – "आधुनिकता को बहुत से लोग खंडित व्यक्तित्व और संत्रास के साथ जोड़ते हैं लेकिन दद्दा लगातार उस रेखा पर जीते थे, जहाँ यह विरोधाभास निरंतर हल होता चलता है। उन्हें 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी' भी कहा जा सकता है और उतनी ही सच्चाई के साथ 'मानवतावादी' भी और वैष्णव तो वह थे ही। शायद इन विरोधाभासों का निरंतर निर्वाह ही उनकी असली चुनौती है और शायद इसलिए एक अतिरिक्त अर्थ में भी वह विरोधाभासों के संगम पर पनपने वाले इस प्राचीन देश, किन्तु नए राष्ट्र के कवि है।"[29] मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं – हिन्दू, यशोधरा, पंचवटी, साकेत और जयद्रथ वध आदि में उनकी सांस्कृतिक दृष्टि, राष्ट्रीयता की भावना तथा अस्मिता बोध का रेखांकन होता है।

हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद और अज्ञेय के बीच एक अटूट सम्बन्ध है जिसका कारण यह है कि अज्ञेय का अज्ञेय नामकरण प्रेमचंद ने ही किया था। अज्ञेय की दृष्टि में प्रेमचंद एक महान रचनाकार थे। उन्होंने प्रेमचंद की रचनात्मक सीमाओं का भी स्पष्ट रेखांकन किया। प्रेमचंद के विषय में अज्ञेय लिखते हैं – "प्रेमचंद किस्सागोई की जमीन से उठकर समाज–सुधार और आदर्शवाद के गलियारों से गुजरते हुए राजनीतिक चिंतन की ओर आये थे और उनकी विचारयात्रा उनकी रचनाओं में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। कोई भी सहृदय पाठक उनका सहयात्री हो सकता है। उस सहयात्रा में वह यह भी देखेगा कि प्रेमचंद जी के विचार उन्हें राजनीतिक मनुष्य के निकटतर लाते हैं, लेकिन न व्यावहारिक राजनीतिक बनाते हैं और न उस व्यवहार की ओर आकृष्ट करते हैं।"[30] अज्ञेय का यह विश्लेषण प्रेमचंद को अराजनीतिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है।

प्रेमचंद का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय भारतीय एवं पाश्चात्य परम्पराओं का दृष्टिकोण रखते हैं। भारतीय परम्परा में तो प्रेमचंद की तुलना में कोई साहित्यकार ही नहीं दिखाई

देता। वे लिखते हैं – "विशेष रूप से प्रेमचंद के कृतित्व के जितने बड़े व्यास का उल्लेख मैं कर रहा हूं, उसके लिए तो कोई दूसरा उदाहरण भारतीय साहित्य में है भी नहीं।"[31] तुलनात्मक विवेचन के परिप्रेक्ष्य में अज्ञेय ने डिकेंस, थैकरे, गाल्सवर्दी के साथ–साथ टॉल्स्टाय और चेखव से तुलना की है। प्रेमचंद द्वारा किये गये अनुवादों से उनके विचारों के साम्य तथा उनके वैचारिक झुकाव का रेखांकन करते हुए अज्ञेय ने बताया कि अनातोले फ्रांस के उपन्यास थाईस तथा गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद करने के कारण प्रेमचंद की अभिरुचि तथा वैचारिकी का पता सहज भाव से लगाया जा सकता है।

प्रेमचंद का विश्लेषण करते हुए अज्ञेय उनकी रचनात्मकता की सीमाओं का भी रेखांकन करते हैं। वे प्रेमचंद की रचनात्मक कमजोरी का भी विश्लेषण करते हैं। अज्ञेय लिखते हैं – "निःसंदेह प्रेमचंद जी में अपने समाज की त्रुटिपूर्णता, अपर्याप्तता की भावना तीव्र थी और फलतः मनोनुकूल समाज की मांग उतनी ही प्रबल। हमारा अनुमान है कि आरंभ में इस बात को स्पष्ट रूप से वह नहीं देखते थे और 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के यथार्थवाद में 'विशफुलथिंकिंग' का एक हल्का सा परदा है – दोनों में जो संस्थाएं समस्या के हल के रूप में पेश की गई है, वे वास्तव में तर्क सिद्ध सुधार चेष्टा का परिणाम नहीं, एक अस्पष्ट अपर्याप्तता को पूरने के लिए खड़े किए गए स्वप्न हैं, 'यूटोपिया' हैं।"[32] यह कहना सही होगा कि अज्ञेय के द्वारा अपने आलोचनात्मक विवेक से प्रेमचंद की औपन्यासिकता के विश्लेषण का यह स्वतंत्र और मौलिक प्रयास है।

अज्ञेय की दृष्टिकोण में प्रेमचंद के कुछ चरित्र अविश्वसनीय और अप्रमाणिक लगते हैं। इसका कारण अज्ञेय मानते हैं कि प्रेमचंद 'व्यक्ति' के बजाय 'टाइप' रचते हैं। वे लिखते हैं – "गोदान में भी दोष हैं – उसका उच्च वर्ग वैसा यथार्थ और विश्वासोत्पादक नहीं है जैसा कि कुछ विदेशी लेखकों का (उदाहरणतया गाल्सवर्दी का फारसाइट परिवार) 'गोदान' में होरी ही यथार्थ है, न कि मेहता, लेकिन यह दोष या तो परिचय की कमी का परिणाम है या व्यक्ति के बजाय 'टाइप' रचने की वृत्ति का, 'इच्छित विश्वास' या 'आश्रम की मांग' का नहीं।"[33]

अज्ञेय प्रेमचंद के अवदान और वैशिष्ट्य का तीन स्तरों पर मूल्यांकन करते हैं। पहला, कुछ महान चरित्रों की रचना, दूसरा, नैतिक यथार्थ की पक्षधरता और नैतिक संसार की

वास्तविकता प्रस्तुत करना और तीसरा, हिन्दी उपन्यास की परम्परा का निर्माण करना। अज्ञेय लिखते हैं – "प्रेमचंद की रचना यात्रा का उल्लेख करते हुए मैंने कहा कि अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गाल्सवर्दी तक जितना क्षेत्र व्यापार किया था, प्रेमचंद ने अपने सर्जक जीवन में उसे अकेले पार कर लिया। इस रूप में प्रेमचंद केवल एक उपन्यासकार नहीं हैं, बल्कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए एक पूरी परम्परा हैं।"[34]

अज्ञेय ने प्रेमचंद के बाद सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की काव्य संवेदना का मूल्यांकन किया है। निराला की काव्य यात्रा छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता जैसे काव्यांदोलनों के समानांतर चलती है। अज्ञेय व्यक्तिगत स्तर पर निराला से न केवल जुड़े थे बल्कि उनके प्रति आदर और सम्मान का भाव था। निराला ने अज्ञेय को 'अर्चना' काव्य संग्रह प्रदान करते हुए लिखा था – "To Ajneya, The Poet writer and Novelist in the Foremost rank"[35]

निराला की 'तुलसीदास' में व्यक्त सांस्कृतिक चेतना की सर्जनात्मकता तथा रचनात्मक विशेषता का उल्लेख करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "'तुलसीदास' जब जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानों एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं, बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएं तो कई होती हैं, जिनमें एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही रचनाएं होती हैं, जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो।"[36]

निराला के साथ अपनी भेंट का उल्लेख करते हुए अज्ञेय निराला के सतत् परिवर्तनशील विचारों का जिक्र करते हैं। निराला आवश्यकतानुसार अपने मत में बदलाव भी लाते हैं। उनका सम्बन्ध नये–पुराने सभी लेखकों से है। शब्द और स्वर के आपसी सम्बन्धों पर विचार करते हुए निराला लिखते हैं – "ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है और हम सब समझते हैं, लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्त्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।"[37]

पंत और निराला के शब्द तथा स्वर सम्बन्धी विचारों में अंतर स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "निराला के सामने संगीत का स्वर है, कविता में स्वर और ताल का विचार वह

संगीत की भूमि पर खड़े होकर ही करते हैं; जबकि स्वर और स्वर मात्रा के विचार में पंत के सामने संगीत नहीं, भाषा का ही स्वर था और सांगीतिकता के विचार में भी वह व्यंजना संगीत से हटकर स्वर को वरीयता दे रहे थे। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पल्लव' के पंत 'गीतिका' के निराला से आगे या अधिक आधुनिक थे लेकिन जिस भेंट का उल्लेख मैं कर रहा हूँ उसमें निराला का स्वर संवेदन कहीं आगे था जबकि उस समय पंत अपनी आरंभिक स्थापनाओं से न केवल आगे नहीं बढ़े थे, बल्कि कुछ पीछे ही हटे थे (और फिर पीछे ही हटते गए)।"[38]

अज्ञेय ने पंत को 'स्वर सिद्ध' कवि कहा है। उनका मानना है कि बाद की रचनाओं में पंत ने स्वर पर बल देना कम कर दिया था। वे लिखते हैं – "स्वर ध्वनियों पर पंत जी का ऐसा अधिकार था कि सच्चे अर्थों में उन्हें स्वर सिद्ध कवि कहा जा सकता है।"[39] अज्ञेय की आलोचना दृष्टि में तुलनात्मक दृष्टिकोण लगातार बना रहता है। पंत और निराला की तुलना के बाद वे स्वर मात्रा के संदर्भ में सुमित्रानंदन पंत की तुलना अंग्रेजी कवि कीट्स से भी करते हैं।

अज्ञेय ने जयशंकर प्रसाद पर केन्द्रित स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है। उन्होंने 'परिस्थिति और साहित्यकार' निबंध में प्रसाद की काव्यगत विशेषताओं का मूल्यांकन किया है। छायावाद और प्रसाद पर लगे पलायनवाद के आरोपों को अज्ञेय अपने आलोचनात्मक विवेक से देखते हैं। 'ले चल मुझे भुलावा देकर' कविता का विश्लेषण करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "इससे यह अनुमान होता है कि कवि इन प्रौढ़, विकसित, उलझी हुई, आधुनिक रुचियों या मनःस्थितियों को ही छोड़कर एक सरल और अधिक सुखद जीवन प्रणाली की ओर जाना चाह रहा है; जिसमें व्यक्ति की आवश्यकताएं कम और उनकी पूर्ति अपेक्षाकृत सुगम हो।"[40] जयशंकर प्रसाद के पलायनवाद की व्याख्या को वे बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं –

1. यथार्थ असह्य और उससे पीड़ा हो रही है।
2. यथार्थ की अनुभूति से ही वह पीड़ा होती है।
3. चेतना धर्म ही है यथार्थ की अनुभूति।
4. उस अनुभूति से मुक्ति पाने के लिए चेतना से मुक्ति पाना अनिवार्य है।"[41]

अज्ञेय फणीश्वरनाथ रेणु को प्रेमचंद की परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में नहीं मानते हैं। प्रेमचंद के कथा साहित्य का जिक्र करते हुए अज्ञेय रेणु का वैशिष्ट्य इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि प्रेमचंद के कथा का गांव आदर्शवाद से प्रभावित है जबकि रेणु के कथा साहित्य का गांव यथार्थवादी है। उसमें गाँव हर तरह के परिवेश का चित्रण है। रेणु की रचनाशीलता का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "रेणु सचमुच धरती के धनी थे; वह हाथ बढ़ाते थे और वसुंधरा की संपदा आपसे आप उनके हाथ आ जाती थी; मिट्टी की ताजा महक लिए हुए, इस शिराओं से स्पंदनमान, एक साथ ही निरी माटी और एक जीव संरचना यही तो होती है, कारयित्री, भावयित्री, रुपयित्री प्रतिभा जो पहचानने को नया और अजनबी पहिचान करती हुई सामने ला खड़ी करती हैं।"[42]

जैनेन्द्र कुमार के रचना–विन्यास का मूल्यांकन अज्ञेय करते हैं। वे लिखते हैं – "परख के भावाक्रांत आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के बाद 'सुनीता' जैसे समस्यामूलक उपन्यास की रचना, जिसकी समस्या यथार्थ जीवन की नहीं, संपूर्णतया कल्पित (हाइपोथेटिकल) है। एक बौद्धिक व्यायाम भी समझी जा सकती है, यदि उसके बाद फिर लेखक यथार्थ की ओर उन्मुख न होता, लेकिन सुनीता की विशुद्ध टेक्निकल विजय भी इशारा करती है कि लेखक की मानसिक प्रगति में कहीं कुछ अटक उत्पन्न हो गई है।"[43] अज्ञेय का मानना है कि जैनेन्द्र के जीवन दर्शन का उनकी कथावस्तु अथवा पात्रों की उद्‌भावना में बड़ा योगदान है पर वह आदर्शवाद का झिलमिल बुना हुआ ताना नहीं है। वे लिखते हैं – "उनके काल्पनिक पात्र वास्तव में प्रतीक पुरुष हैं, जिनके निमित्त से वह नीरस बुद्धिवाद के विरुद्ध आस्था के, विश्वास के विद्रोह के अपने जीवन दर्शन को प्रतिपादित करना चाहते हैं।"[44] अज्ञेय ने 'नीलमदेश की राजकन्या' और 'त्यागपत्र' का भी मूल्यांकन किया है। त्यागपत्र के संदर्भ में वे लिखते हैं – "यहाँ हमें इसी से मतलब है कि वह कुंठा 'पर्याप्त' तोषप्रद सामाजिक परिवृत्ति की कुंठा नहीं है। हो सकता है कि 'त्यागपत्र' के लेखन ने इसको समझकर उसके प्रति ठीक दृष्टिकोण अख्तियार कर लिया हो, स्वीकृति का नहीं, युयुत्सा का भव उसमें जागा हो। यदि ऐसा हुआ है, तब इस मांग का अनुभव कर चुके होने से उनकी रचना में गहराई ही आएगी।"[45]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट की आत्मकथा का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "कितना आसान होता बाणभट्ट को बीसवीं शती का संवेदन दे देता, उसे

वाहन बनाकर बीसवीं शती के विचार, अभिमत और मनोभाव ढ़ोते ले चलना–कितना आसान और कितनी आसानी से प्रगतिशीलता का भी दावा करने वाला।"[46]

रामधारी सिह दिनकर अपनी लोकप्रियता और श्रेष्ठता के समन्वय के लिए जाने जाते हैं। उनकी 'उर्वशी' हिन्दी आलोचना में सर्वाधिक विवादित रही है। अज्ञेय की दृष्टि में 'उर्वशी' से अधिक सर्जनात्मक कृति 'हारे को हरिनाम' है। वे लिखते हैं "अपनी पुरस्कृत काव्य–नाटकीय रचना 'उर्वशी' में भी वह 'कामध्यात्म' की चर्चा करते रहे, जिनके बीच का द्वन्द्व वह अंत तक हल नहीं कर पाये... 'हारे को हरिनाम' निश्चय ही उससे पहले की सब रचनाओं से प्रौढ़तर कृति है, लेकिन लौकिक जीवन की आकांक्षाओं की कुंठा का जो प्रतिबिंब उनमें झलकता है, वह यह भी सूचित करता है कि हरिनाम कवि के लिए छटपटाहट की एक दिशा ही रही, वहां तक वह पहुंच नहीं पाया। उस संग्रह की सच्चाई कोई पहुंची हुई सच्चाई नहीं है; पहुंच न पाए होने की अकुलाहट की सच्चाई है।"[47]

5.2 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में साम्य

अज्ञेय और मुक्तिबोध ने भक्तिकाल के उद्‌भव, कबीर तथा तुलसीदास के काव्य पर विचार किया है। इन आलोचकों से पूर्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भक्तिकाल के संदर्भ में चिंतन महत्त्वपूर्ण है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में लिखा है – "आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये थे। इतने भारी राजनैतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी भी छाई रही, अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[48] भक्ति के उदय के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कथन का अज्ञेय समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। वे 'हिन्दी साहित्य : चौपाई' में लिखते हैं – "हिन्दुस्तान के लिए वह ज़माना एक तरह से निराशा और अंधकार का ज़माना था। जो लोग इस देश के निवासी थे और इसमें राज करते रहे थे; उनकी शान के दिन बीत चुके थे; पर उस शान की याद अभी इतनी ताज़ी थी कि उससे दिल में टीस उठे। दूसरी ओर, बाहर से जो ताक़तवर हमला देश पर हुआ था, जिसके कारण एक नई जाति ने राज–काज हाथ में ले लिख। ... यह जानी हुई बात है कि ऐसी हालत में लोग सबसे पहले धर्म या भक्ति के जरिए से ही दिलासा और शान्ति पाने की कोशिश करते हैं; और इसीलिए ऐसी गिरी हालत में भक्ति भी ताक़त और कर्म का मन्त्र देने के बजाय शान्ति और सन्तोष की ओर बढ़ने लगती है।"[49] हालांकि इसी लेख में अज्ञेय ने धर्म या भक्ति के प्रभाव का भी जिक्र किया है। वे लिखते हैं – "वह एक नशीली चीज होती है, जिससे लोग अपनी आत्मा में एक ख़ास तरह का ढ़ीलापन, शिथिलता पैदा कर लेते हैं और उसकी पिनक में ऊँघते रहते हैं।"[50] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार का खण्डन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – "यह भी बताया गया है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो निराश होकर हिन्दू लोग भगवान का भजन करने लगे। यह बात अत्यंत उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे, तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे

सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था; पर हुई वह दक्षिण में। .. दक्षिण में वैष्णव भक्ति ने बड़ा जोर पकड़ा। इसके पुरस्कर्ता आलवार भक्त कहे जाते हैं।"[51] भक्ति के उदय के संदर्भ में मुक्तिबोध का मत हजारीप्रसाद द्विवेदी के निकट लगता है। 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' लेख में वे लिखते हैं – "भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्म शास्त्रवादी, वेद–उपनिषदवादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार सन्तों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।"[52] इसी लेख में मुक्तिबोध आगे लिखते हैं – "ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की गरीब जनता में भक्ति आंदोलन का प्रभाव अत्याधिक हुआ। राजनैतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू–मुस्लिम दोनों प्रकार के सामंती उच्च वर्गीयों से पीड़ित रही। सन्तों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन–गायन ने उनके जीवन में रस संचार किया।"[53]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में जो सम्बन्ध आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का है, वही सम्बन्ध अज्ञेय और मुक्तिबोध का भी। विषयवस्तु समान होने पर भी इनमें असमानता है। जहाँ अज्ञेय भक्तिकाल के उदय का कारण बाह्य आक्रमण और निराशा को मानते हैं, वहीं मुक्तिबोध इसे दक्षिण भारत से मानते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार भारतीय जनता हिन्दू–मुस्लिम दोनों प्रकार के सामंती उच्चवर्गीयों से प्रताड़ित रही। इसे केवल मुस्लिमों सामन्तों के उत्पीड़न का कारण नहीं माना जाना चाहिए।

भक्तिकाल के उदय के बाद इन दोनों की आलोचना के केन्द्र में कबीर और तुलसीदास हैं। कबीर और तुलसीदास में आधुनिक कौन है। यह सवाल हिन्दी आलोचना का केन्द्रीय सवाल रहा है। इस पर मुक्तिबोध लिखते हैं – "मेरे मन में बार–बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पन्थ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय सन्त तुलसीदास की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? क्या कारण है कि हिन्दी–क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदास जी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है? समाज के पारिवारिक क्षेत्र में इस कट्टरपन को अब नये पंख भी फूटने लगे हैं।"[54] मुक्तिबोध की आलोचना प्रक्रिया में साहित्य मूल्यांकन में युग की मूल गतिमान

सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी रखना एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। मुक्तिबोध को कबीर की आधुनिकता के समर्थन का कारण यही है। वे लिखते हैं – "कबीर हमें आपेक्षिक रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में कहीं छिपा हुआ है।"[55]

उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के संघर्ष का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निःसंदेह धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा किन्तु भक्ति आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा, सिंधी, सेना नाई, आदि–आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था।"[56] निर्गुण और सगुण के संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारंभिक विकास कृष्ण भक्ति के रूप में हुआ। यह कृष्ण भक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति आंदोलन से प्रभावित थी। उच्चवर्गीयों का एक भावुक तबका भक्ति आंदोलन से हमेशा प्रभावित होता रहा, चाहे वह दक्षिण भारत में हो या उत्तर भारत में।"[57]

निर्गुण मत और तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "एक बार भक्ति आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास जी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रांतिकारी संदेश था। कृष्ण भक्ति में वह बिल्कुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्न जातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवादी–विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराण–मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण मतवादियों का ईश्वर एक था,

किन्तु जब तुलसीदास के मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण–स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था – जो जातिवाद वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी – उत्पन्न की।"[58]

कबीर और तुलसीदास का तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं – "साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के संदेश से अधिक क्रांतिकारी था। तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्त्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर हैं; किन्तु चूँकि राम ने ही सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम और जातिवाद को तो मानना ही होगा।"[59]

तुलसीदास के विषय में ही वे आगे लिखते हैं – "तुलसीदास जी के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न अत्यन्त आवश्यक भी हैं। रामचरितमानसकार एक सच्चे सन्त थे; इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। रामचरितमानस साधारण जनता में भी उतना ही प्रिय रहा जितना कि उच्चवर्गीय लोगों में। कट्टरपंथियों ने अपने उद्देश्यों के अनुसार तुलसीदास जी का उपयोग किया जिस प्रकार आज जनसंघ और हिन्दू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया। सुधारवादियों को तथा आज की भी एक पीढ़ी को तुलसीदास जी के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा यह भी एक बड़ा सत्य है।"[60]

भक्ति आन्दोलन के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारों का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "भक्तिकाल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न हैं यद्यपि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही, और उसकी पूर्व भूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही। किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्य युगीन भक्तों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों के तत्त्व नहीं हैं। पण्डित रामचंद्र शुक्ल के इस कथन से हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। किन्तु पण्डित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम विरोधी और हिन्दू–राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते। असल बात यह है कि मुसलमान सन्त मत भी उसी तरह कट्टरपंथियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति मार्ग। दोनों एक दूसरे से प्रभावित भी थे। ... भक्ति आंदोलन का आविर्भाव, एक ऐतिहासिक–सामाजिक शक्ति के रूप में, जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।"[61]

'हिन्दी–साहित्य : चौपाई' में अज्ञेय तुलसीदास के रामचरितमानस का मूल्यांकर करते हुए लिखते हैं – "तुलसी की रामायण हिन्दी पढ़े–लिखों के लिए मानों उनकी पोशाक है। पोशाक के भीतर उनकी अपनी त्वचा तो है, पर पोशाक के बिना रहना शिष्टता से गिर जाना है। हिन्दी पढ़े–लिखों के लिए यह बड़े शर्म की बात है कि वे तुलसी की रामायण न पढ़े हों। और दोहे–चौपाई में लिखी हुई यह रामायण उन लोगों के जीवन का इतना बड़ा हिस्सा बन गई है कि इन छन्दों का नाम लेने से सिवाय उस रामायण के और किसी पुस्तक की याद नहीं आती।"[62]

आगे भक्तिकाव्य ओर तुलसीदास का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – ...ऐसी ही दिशा में भक्तिकाव्य बह रहा था जब तुलसीदास काव्यजगत् में प्रकटे। इस धारा को और इससे पैदा होने वाले खतरे को उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया और इसी का खण्डन करने के लिए उन्होंने एक नया आदर्श देश के आगे रखा। राम के भक्त और कवि तो वह थे ही, सुधार का जोश भी उनमें जागा, और उनके रामचंद्र न केवल वाममार्गियों के जवाब में खड़े हुए बल्कि उन तमाम वृत्तियों के जवाब में भी, जो भारत के पुराने आदर्श से नीची थीं। तुलसी की रामभक्ति सिर्फ भक्ति नहीं थी, उसमें लोकधर्म का आदर्श भी था। उसमें सनातन रीति और देशी संस्कृति का अभिमान भी था। वह सुधार चाहते थे तो पुराने को मिटाकर नहीं उसका उद्धार करके, ऊपर जमी हुई मैल की पपड़ी को उतारकर भीतर से शुद्ध पुराना कांचन निकालकर। वह क्रांति नहीं चाहते थे, वह संरक्षण चाहते थे।"[63]

कबीर और तुलसी के सुधारक वृत्ति का तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "यहीं पर उनकी सुधारक वृत्ति कबीर से भिन्न थी। कबीर की सीख मानो आँधी की तरह पुराने संस्कारों को तहस–नहस करती हुई थी। – समाज के जीवन में एक बवन्डर उठा देती थी। वह खरी दो टूक बात कहते थे और परवाह नहीं करते थे कि किसे चोट पहुँचती है। इसीलिए विद्वानों ने उन्हें अपनाने की बजाय गालियाँ दी और मूर्ख कहकर कोसा, उनकी बातें भी आम जनता में नहीं मानी गई। दूसरी ओर, तुलसी ने यही दरशाया कि वह नया कुछ नहीं कहते, जो सनातन है उसी का पवित्र सन्देश उनके पास है। शुद्ध सनातन के नाम पर ही उन्होंने नए विचार दिए, राम को शबरी के जूठे बेर खिलाए और वशिष्ठ को अछूत निषाद को गले लगाया।"[64]

अज्ञेय ने उत्तर मध्यकाल के कवि केशवदास पर अपनी व्यावहारिक आलोचना लिखी है। यह आलोचना 'केशव की कविताई' नाम से प्रकाशित है। 'केशव की कविताई' संवाद शैली में है। इसका विस्तार बलराज, त्रिपाठी और आनंद जैसे काल्पनिक पात्रों के माध्यम से होता है। इसमें अज्ञेय भक्तिकाल के उदय के संदर्भ में लिखते हैं – "राजनैतिक उथल–पुथल के कारण वीर काव्य का रुक जाना स्वाभाविक था। उसके बाद हारी हुई हिन्दू जनता के लिए भक्ति की ओर झुकना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि आँख फूट जाने पर किसी का सहारे के लिए दीवार या लकड़ी टटोलना।"[65] और वे आगे लिखते हैं – "इस तरह भक्ति काव्य शुरु हुआ। साथ ही सामाजिक कारण भी खड़े हुए – ऊँच–नीच और जात–पात के रीति रस्म पर लोगों का भरोसा कुछ कम होने लगा। इस तरह भक्ति मार्ग की कई धाराएं हो गयीं – सबने अपने–अपने आस–पास की जमीं हुई रूढ़ियों को अपना लिया। जिससे राम भक्ति, कृष्ण भक्ति, सूफी–मत वगैरह की अलग ढंग की कविता सामने आयी ये सब जमाने की उपज थी।"[66] केशव की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय उनकी जटिल काव्य–प्रक्रिया पर विचार करते हैं। जटिल काव्य–प्रक्रिया का कारण वे संस्कृत परम्परा को मानते हैं। वे लिखते हैं – "पंडिताऊ (संस्कृत परम्परा) के कारण केशव की कविताएँ जटिल हैं।"[67] अज्ञेय हिन्दी कविता में केशव के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखते है – "हिन्दी कविता में केशव के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – "हिन्दी कविता उस जगह पहुंच गयी थी, जहाँ उसे एक शास्त्र की जरूरत थी। केशव ने इसका अनुभव किया और उसने पहले पहल हिन्दी काव्य को एक शास्त्र दिया।"[68]

अज्ञेय ने भक्ति साहित्य और रीति काव्य पर भी संक्षेप में विचार किया है। केशव के विषय में उनकी स्थापना विवादास्पद भी रही और महत्त्वपूर्ण भी, यह बात ध्यान रखने वाली है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तुलसी और केशव तथा कबीर सम्बन्धी विचारों से अज्ञेय का मतभेद और असहमति रही है। लेकिन भक्ति काव्य के उदय की व्याख्या अज्ञेय भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि के अनुरूप ही करते हैं।

अज्ञेय का गंभीर चिंतन आधुनिक काल पर है। उन्होंने किसी आदिकालीन या मध्यकालीन कवि पर बहुत विस्तार से नहीं लिखा है। केशव पर उनके विचार अवश्य सामने आये हैं। केशव को हृदयहीन कवि बताने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल की यह उक्ति हिन्दी

आलोचना में अत्यन्त प्रसिद्ध हो चुकी है कि केशव को कवि हृदय नहीं मिला था; लेकिन जिस हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह लिखा उसी में उन्होंने यह भी लिखा कि संवाद योजना में जो सफलता (अंगद–रावण संवाद) केशव को मिली है, वह सफलता तुलसीदास को भी नहीं मिल सकी। वे लिखते हैं – "केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।"[69] और दूसरा कथन "रामचंद्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुंदर है। उनका रावण–अंगद संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुंदर है।"[70] केशव के विषय में अज्ञेय लिखते हैं – "केशवदास शेक्सपीयर के समकालीन थे। जैसे एलिजाबेथ के जमाने में, अंग्रेजी कविता विकास की एक चोटी पर पहुंच चुकी थी, वैसे ही केशव के जमाने तक भी हिन्दी कविता उस जगह पर पहुंच चुकी थी; जहाँ उसे एक शास्त्र की जरूरत थी। केशव ने इसका अनुभव किया और उन्होंने पहले पहल हिन्दी काव्य को एक शास्त्र दिया।"[71] इसी विषय में वे आगे लिखते हैं – "कविप्रिया, रसिकप्रिया, नख–शिख वगैरह और रामचंद्रिका का भी चरित काव्य उतना ही, जितना छंदशास्त्र का खजाना, उतनी तरह के छंद किसी और कवि ने नहीं लिखे होंगे।"[72] मुक्तिबोध ने रीतिकालीन या उत्तर मध्यकालीन कवियों पर कुछ नहीं लिखा है।

आधुनिक काल में अज्ञेय ने मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं का सूक्ष्मता से मूल्यांकन किया है। वे लिखते हैं – "मेरे गुरु स्थानीय स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त वाचिक परम्परा के अंतिम महाकवि थे। उनका शिष्य जब मैं लिखने लगा तो नयी रचना–स्थिति को, नयी संप्रेषण स्थिति के नियामक, प्रभाव को पूरी तरह स्वीकार करके ही आधुनिक कवि हुआ जा सकता है, फिर वह आधुनिकता चाहे जितनी कठिनाइयाँ अपने स्वीकार के साथ लाये। वाचिक परम्परा के अंतिम कवि मैथिलीशरण भी अपने समय में कम विद्रोही न थे।"[73] हिन्दी आलोचना में मैथिलीशरण गुप्त को इतिवृत्तात्मक कवि के रूप में देखने की कोशिश की गयी। अज्ञेय ने उनकी महानता का बखान ही नहीं किया उनके महत्त्व को भी समझने की कोशिश की। औपनिवेशिक दासता के दौर में गुप्त जी ने भारतीय चेतना का पुनर्निर्माण किया। देश में गुप्त जी के रचना कर्म की प्रेरणा ने सांस्कृतिक नवजागरण को धारदार बनाया। राष्ट्रीयता, देशभक्ति और आधुनिकता के संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त के विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं –

"हिन्दी के आधुनिक कवियों में कदाचित दो ही कवि हैं जिन्होंने वात्सल्य रस की भी कविताएँ की हैं मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा में इसके कुछ सुंदर उदाहरण मिलते हैं।"[74]

मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में साम्यता ही प्रदर्शित करता है। दोनों ही गुप्त को आधुनिक कवि और उनकी कविता को विशिष्ट मानते हैं।

मुक्तिबोध का प्रेमचंद से परिचय तब हुआ जब वे मैट्रिक के विद्यार्थी थे। मुक्तिबोध की माँ प्रेमचंद के कथा साहित्य का अध्ययन कर चुकी थीं। प्रेमचंद को जानने का श्रेय मुक्तिबोध अपनी माँ को ही देते हैं। प्रेमचंद से संदर्भित अपने लेख में वे लिखते हैं – "प्रेमचंद जी का कथा साहित्य पढ़कर आज हम एक उदार और उदात्त नैतिकता की तलाश करने लगते हैं, चाहने लगते हैं कि प्रेमचंद के पात्रों के मानवीय गुण हममें समा जायें, हम उतने ही मानवीय हो जायें जितना कि प्रेमचंद चाहते हैं। प्रेमचंद जी का कथा–साहित्य हम पर एक बहुत बड़ा नैतिक प्रभाव डालता है। उनका कथा–साहित्य पढ़ते हुए उनके विशिष्ट ऊँचे पात्रों द्वारा हमारे अन्तःकरण में विकसित की गयी भावधाराएं हमें न केवल समाजोन्मुखी करती हैं, वरन् वे आत्मोन्मुखी भी कर देती हैं। और जब प्रेमचंद हमें आत्मोन्मुख कर देते हैं, तब वे हमारी आत्मकेन्द्रिता के दुर्ग को तोड़कर हमें एक अच्छा मानव बनाने में लग जाते हैं। प्रेमचंद समाज के चित्रणकर्त्ता ही नहीं वरन् वे हमारी आत्मा के शिल्पी भी हैं।"[75]

प्रेमचंद का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं – "प्रेमचंद किस्सागोई की जमीन से उठकर समाज–सुधार और आदर्शवाद के गलियारों से गुजरते हुए राजनीतिक चिंतन की ओर आये थे और उनकी विचार–यात्रा उनकी रचनाओं में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। कोई भी सहृदय पाठक उनका सहयात्री हो सकता है।"[76] इस प्रकार कहा जा सकता है कि अज्ञेय और मुक्तिबोध ने अपनी व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से प्रेमचंद के कथा साहित्य को समझने–परखने की नयी दृष्टि प्रदान की।

हिन्दी आलोचना में 'उर्वशी–समीक्षा' विवादास्पद और महत्त्वपूर्ण रही है। इस विषय में 'कविता के नये प्रतिमान' में नामवर सिंह अज्ञेय और मुक्तिबोध के दृष्टिकोण का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं – "... उदाहरण के लिए, इतनी दूर तक तो मुक्तिबोध और अज्ञेय दोनों सहमत हैं कि भगवतशरण उपाध्याय की समीक्षा बहुत कुछ साहित्येतर है, किन्तु इसके बाद

अज्ञेय की दृष्टि में जहाँ वह 'लेख छपने लायक नहीं था', मुक्तिबोध उसे 'अत्यंत उपयोगी' मानते हैं, क्योंकि "सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के परिचालन द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के विकास और प्रसार के दृश्य हिन्दी में खूब ही हैं। ऐसी स्थिति में दंभ और आडम्बर का उद्‌घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है।"[77] आगे नामवर सिंह लिखते हैं – "कहना न होगा कि काव्य–मूल्यों की शुद्धता के बारे में मुक्तिबोध को उतनी ही आस्था है जितनी अज्ञेय को, फिर भी दोनों की दृष्टियों में अंतर है तो जाहिर है कि उसका स्रोत कहीं और होगा। अज्ञेय के लिए जो लेख 'दूषित दृष्टि' और 'द्वेष भरी मनोवृत्ति का परिचायक है, उसे मुक्तिबोध व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हुए कहते हैं कि "सामाजिक प्रतिष्ठा के जोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्र–तत्र दिखाई देते हैं उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इसीलिए भगवतशरण जी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्त्व है।"[78]

इस प्रकार अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक समीक्षा के केन्द्र में भक्तिकाल, कबीर, तुलसी, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला', महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन आदि रचनाकार हैं। जिन पर दोनों आलोचकों ने अपने दृष्टि से समीक्षाएं लिखी हैं।

5.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में वैषम्य

अज्ञेय और मुक्तिबोध ने व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत कुछ स्वतंत्र विषयों पर लिखा है। उनका यह लेखन उनके आलोचनात्मक विवेक के वैषम्य की ओर संकेत करता है। उनके द्वारा देशी–विदेशी रचनाओं एवं रचनाकारों को इसके अन्तर्गत रखा गया है। मुक्तिबोध वीरेन्द्रकुमार के 'आत्मपरिणय' नामक रचना का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं – "प्रकृति और आत्मा, स्त्री और पुरुष – इन स्वाभाविक द्वन्द्व का आध्यात्मिक अर्थ और उसका उद्देश्य, जिन गम्भीर मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा अपने आपको उद्घाटित करता है – मानवी जीवन के वे रहस्यमय, स्रोतमय, परितृप्ति के आग्रही सत्य किस तरह एक–दूसरे में बँटकर फिर एकत्र हो जाते हैं, एक विशाल आलिंगन के गंभीर तन्मय माधुर्य में स्वयं को पर्यवसित कर देते हैं – ऐसे में सत्य–जीवन के अर्थ – मानव जीवन के सत्य, किन सूक्ष्म प्रक्रियाओं के द्वारा, गति–पथों के द्वारा, अपनी परितृप्ति की ओर उन्मुख होते हैं – बाह्य को चुनौती देते हुए अपनी कोमल चेतना की अंगारमय शक्ति अपने हृदय में ढाँककर उस सतह तक पहुंच जाते हैं जिसे आध्यात्मिक कहकर हम अपने को धन्य मानते हैं, उनका चित्रण 'आत्मपरिणय' में हुआ है।"[79] यह निबंध 'वीणा', अक्टूबर 1942 में प्रकाशित हुआ था।

मुक्तिबोध ने 'फ्रेंच क्रांति के इर्द–गिर्द का उपन्यास साहित्य' निबंध में विक्टर ह्यूगो, फ्लाबेर, ज़ोला, और जार्ज इलियट जैसे फ्रेंच उपन्यासकारों का मूल्यांकन किया है। उपन्यास की विषय वस्तु के बारे में वे लिखते हैं – "पूंजीवादी समाज के उत्थान के साथ ही साथ उपन्यास साहित्य जगत में अवतरित हुआ। ... उसके विशेष अधिकार हैं जिसको एक शब्द में, हम 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' कह सकते हैं। उपन्यास का प्राण है यही व्यक्ति स्वातंत्र्य का दृष्टिकोण जो पूंजीवादी प्रजातंत्रीय जनक्रांति की देन है।"[80]

विक्टर ह्यूगो के उपन्यासों का मूल्यांकन करते हुए वे लिखते हैं – "उसके उपन्यासों में पीड़ित जनता का जितना चमकीले रंगों में चित्रण हुआ है उतना उस काल के किसी भी उपन्यास में नहीं। ... इसका कारण था ह्यूगो का अपने वर्ग से हटकर – अपने वर्ग की समस्याओं से हटकर – निम्नतम मनुष्य श्रेणी में जा पहुंचना। वह महान सहानुभूति, वह ज्वलंत मानवतावाद, मनुष्यता की नग्न और बीभत्स वास्तविकता की मसीहाई, विक्टर ह्यूगो की अपनी चीज है।"[81]

फ्लाबेर के उपन्यासों का मूल्यांकन करते हुए वे लिखते हैं – "फ्लाबेर का उपन्यास 'मादाम बोकरी' भी सिर्फ मध्यवर्ग की एक समस्या बतलाता है। ... इसी प्रकार जोला ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'नाना' में एक मध्यवर्गीय स्त्री के वेश्या–जीवन का चित्रण किया है। 'नाना' का वेश्या–जीवन समाज को एक चुनौती है, समाज–रचना को एक चुनौती है।"[82] इन उपन्यासकारों के अलावा मुक्तिबोध ने बालजॉक, अनातोल फ्रांस और हार्डी आदि उपन्यासकारों का भी मूल्यांकन किया है।

'शेक्सपियर से एक मुठभेड़' निबंध में प्रश्नोत्तर शैली में उनकी रचनाओं की विषय–वस्तु को समझने का प्रयास किया गया है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "शेक्सपियर के विभिन्न महान पात्रों की दुःखान्त परिणति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जाने या अनजाने, लेखक के लिए, पात्र का व्यक्तितव ही वह गतिमयी शक्ति है जो उसके भाग्य का निर्माण करती है। पात्र का चरित्र ही उसका भाग्य या भविष्य है। कैरेक्टर इज़ डैस्टिनी।"[83]

'लू सुन की कहानियाँ' लेख में मुक्तिबोध उनकी कहानियों – पागल आदमी की डायरी, दवा, मेरा पुराना मकान, नये साल का बलिदान, शराब की दूकान, मनुष्य–द्वेषी, तलवार बनायी जा रही है, आदि का मूल्यांकन करते हैं। 'पागल आदमी की डायरी' कहानी के विषय में वे लिखते हैं – "पागल आदमी की डायरी' चीनी लेखक लू सुन की एक कहानी है जो सन् 1918 में लिखी गयी थी। यह उसकी सबसे पहली कहानी है। किन्तु मज़ा यह है, उस कथा ने एक खलबली मचा दी। मांचू साम्राज्य के सामंती जीवन मूल्यों के विरुद्ध सांस्कृतिक क्रांति का वह पहला शंखनाद था।"[84]

'दवा' कहानी का मूल्यांकन करते हुए वे लिखते हैं – "'दवा' नामक कहानी की नाटकीयता अद्‌भुत है। इसी नाटकीयता के कारण उसकी गहरी उदासी इतनी खलती नहीं है। कहानी में प्रतीकात्मकता और मनौवैज्ञानिकता भरपूर है। जनता की मोह–निद्रा के बीच एक क्रांतिकारी नेता को गोली से उड़ाये जाने की वह कथा है, जिसमें जनता का चित्रण ही प्रधान है। और इस कहानी का अन्त बहुत ठाठदार है।"[85]

'समकालीन रूसी उपन्यास' निबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है – "रूसी उपन्यास साहित्य हिन्दी भाषी जनता में हमेशा लोकप्रिय रहा है। किन्तु नवीन सोवियत उपन्यास के

सम्बन्ध में हिन्दी में न कोई प्रचार हुआ है, न वे इतने पढ़े ही गये हैं कि चर्चा का विषय बन सके। ... इसका पहला कारण तो यह है कि हमारे यहाँ उपन्यासों का अनुवाद आजकल बहुत ही कम होता है। फलतः शिक्षित जनता का एक बहुत बड़ा भाग वंचित रह जाता है। दूसरे, यह भी है कि हिन्दी के चोटी के आलोचक बाल की खाल निकालकर उसका तम्बू बनाने में लगे हुए हैं। शायद उनको यह मालूम नहीं है कि उनकी महान आलोचनाओं का (प्रभाव) सत्साहित्य की अपेक्षा अत्यंत क्षीण रहा है।"[86]

इस लेख में मुक्तिबोध ने हार्वेस्ट, डानवास और स्टैण्डर्ड–बेअरर्स जैसे उपन्यासों का मूल्यांकन किया। वे क्लासिकल और नवीन सोवियत उपन्यास के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – "क्लासिकल उपन्यासों और नवीन सोवियत उपन्यास में चरित्र–चित्रण की कल्पना में भेद है। ... क्लासिकल उपन्यास में विरोधी स्थिति – परिस्थितियों के विरुद्ध आत्म सत्ता की स्थापना की दृष्टि में पात्रों का विकास होता है। ... ठीक यही बात बिलकुल भिन्न रूप धारण कर नये सोवियत उपन्यास में है। नये उपन्यास में व्यक्ति समाज की निर्णायक प्रक्रियाओं का प्रतिनिधि होता है। अतएव उसके माध्यम से कल–कारखानों, खेतों, वैज्ञानिक अनुसंधानों के मानवीय पक्ष का जीवन के और जनता के अभ्युत्थान का चित्रण किया जाता है।"[87]

मध्य प्रदेश की 'कहन' शैली के विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "मध्यप्रदेश की साहित्यिक प्रवृत्तियों की कुछ अपनी विशेषताएं रही हैं जो अन्य क्षेत्रों में नहीं पायी जातीं। प्रचलित साहित्यिक शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि यहाँ की शैली में 'कहन' अधिक और अलंकरण कम है। ... श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव की काव्य शैली जहाँ वह वस्तुतः मौलिक है, स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान और माखनलाल चतुर्वेदी की शैलियों से पृथक् है।"[88]

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' पर तो मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना प्रसिद्ध है ही। इसके अलावा उन्होंने प्रसाद के नाटक 'स्कंदगुप्त – कुछ नोट्स' नाम से समीक्षा लिखी है। इसका मूल्यांकन उन्होंने 'इतिहास का आधार' और 'परिस्थिति योजना' को केन्द्र में रखकर किया। 'इतिहास का आधार' में कल्पना के दो प्रयोगों का उल्लेख किया है।

अज्ञेय ने 'चार नाटक' नाम से चार नाटकों की समीक्षा की है। ये चार नाटक हैं – महात्मा ईसा, स्कंदगुप्त, रेवा और स्वप्न भंग। इन नाटकों की समीक्षा से पहले अज्ञेय नाटक की लोकप्रियता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – "हिन्दी नाटक की ओर लोगों का ध्यान तब गया जब देश में राजनैतिक जागृति के पीछे–पीछे साहित्य का भी नया जागरण हुआ। तब से धीरे–धीरे नाटक आगे बढ़ता गया है ... तो आजकल के हिन्दी नाटक प्रायः सभी एक पुनरुत्थान की भावना से लिखे गये हैं, उद्देश्य उन सबका 'रिवाइवलिस्ट' है। कुछ अपवाद अवश्य हैं, जिनमें अपने समाज की और रूढ़ियों की तीखी आलोचना की गई है। पर अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अगर उनमें घटना की सच्चाई की थोड़ी बहुत उपेक्षा भी हो जाये, तो भी उनमें दीखने वाला स्पन्दन होता है अपने इतिहास के ज्ञान का ही, अपने खोए हुए गौरव की याद और अपनी उलझकर रुक गयी–सी संस्कृति की वेदना नाटकों की कथावस्तु के पीछे छिपकर खोलती है।"[89] इस प्रकार अज्ञेय ने नाटकों की लोकप्रियता तथा विषय वस्तु को स्पष्ट किया। अज्ञेय ने पुनरुत्थान, ऐतिहासिकता और संस्कृति की सीमा में इन चार नाटकों की समीक्षा की है। ऐतिहासिक चेतना के आधार पर अज्ञेय महात्मा ईसा और स्वप्नभंग को कमजोर कृति मानते हैं जबकि स्कंदगुप्त में वह सशक्त रूप में उभरी हुई मानते हैं। महात्मा ईसा की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं – "... इस दृष्टि से उग्र जी का नाटक निराशाजनक है। ईसा के जीवन के सबसे अधिक नाटकीय संघर्ष के क्षण को नाटककार ने नहीं चुने हैं।"[90] जबकि स्कंदगुप्त की समीक्षा करते हुए लिखते हैं – "प्रसाद के स्कंदगुप्त में नाटकीय 'यूनिटी' (ऐक्य) की ओर भी उपेक्षा की गई है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि ऐतिहासिक चेतना प्रसाद की सबसे अधिक सचेत है, जिस युग का चित्र उन्होंने खींचना चाहा है, उसके प्रति सच्चे होने का प्रयत्न भी उन्हीं के नाटकों में है।"[91]

कहानीकार सत्यवती मलिक की कहानी 'दो फूल' की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं – "... कहानियाँ जीवन की समस्याओं को छूती हुई है। मानवी जीवन का संघर्ष और मानवी स्वभाव का उनमें बड़ी सफलता से चित्रण किया गया है। चित्र–चित्रण की यह स्वाभाविकता, मानवी समाज का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही उनकी कला का प्राण है।"[92]

संदर्भ

1 भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य – शिवकुमार मिश्र, पृ. 34–35
2 अज्ञेय : आलोचना संचयन – ओम निश्चल, पृ. 270
3 हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 63
4 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 289
5 नयी कविता का आत्मसंघर्ष – मुक्तिबोध, पृ. 88
6 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5 – नेमिचंद्र जैन, पृ. 291
7 वही, पृ. 292
8 वही, पृ. 292
9 अज्ञेय : आलोचना संचयन – ओमनिश्चल, पृ. 269
10 वही, पृ. 275
11 वही, पृ. 275
12 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 429
13 वही, पृ. 431
14 कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध, पृ. 13
15 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 451
16 वही, पृ. 451
17 वही, पृ. 383
18 वही, पृ. 386
19 वही, पृ. 396
20 वही, पृ. 383
21 वही, पृ. 375
22 वही, पृ. 464
23 वही, पृ. 182
24 वही, पृ. 433
25 वही, पृ. 473
26 वही, पृ. 473
27 वही, पृ. 443
28 वही, पृ. 444
29 स्मृति लेखा – अज्ञेय, पृ. 33–34
30 वही, पृ. 48
31 वही, पृ. 48
32 आधुनिक हिन्दी समीक्षा – सं. निर्मला जैन, प्रेमशंकर, प्रथम संस्करण, 1985
33 वही, पृ. 149
34 स्मृति लेखा – अज्ञेय, पृ. 56

35 वही, पृ. 67
36 वही, पृ. 62
37 वही, पृ. 64–65
38 वही, पृ. 65
39 वही, पृ. 78
40 आधुनिक हिन्दी समीक्षा – अज्ञेय, पृ. 58
41 वही, पृ. 155
42 स्मृति लेखा – अज्ञेय, पृ. 109
43 आधुनिक हिन्दी समीक्षा – अज्ञेय, पृ. 150
44 वही, पृ. 150
45 आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ. 53
46 स्मृति लेखा – अज्ञेय, पृ. 151
47 वही, पृ. 119
48 हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 33
49 अज्ञेय : आलोचना संचयन – सं. ओम निश्चल, पृ. 270
50 वही, पृ. 270
51 हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास – हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 59
52 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, – सं. नेमिचंद्र जैन, पृ. 289
53 वही, पृ. 289
54 वही, पृ. 288
55 वही, पृ. 289
56 वही, पृ. 290
57 वही, पृ. 291
58 वही, पृ. 291
59 वही, पृ. 292
60 वही, पृ. 294
61 वही, पृ. 293
62 अज्ञेय : आलोचना संचयन – सं. ओम निश्चल, पृ. 269
63 वही, पृ. 271
64 वही, पृ. 275
65 वही, पृ. 275
66 वही, पृ. 275
67 वही, पृ. 275
68 वही, पृ. 275
69 हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 115

70 वही, पृ. 117
71 त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. 101
72 वही, पृ. 101
73 सर्जना एवं संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 9
74 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 396
75 वही, पृ. 431–432
76 स्मृति लेखा – अज्ञेय, पृ. 48
77 कविता के नए प्रतिमान – नामवर सिंह, पृ. 67
78 वही, पृ. 67–68
79 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 365
80 वही, पृ. 369
81 वही, पृ. 371
82 वही, पृ. 372
83 वही, पृ. 401
84 वही, पृ. 410
85 वही, पृ. 410
86 वही, पृ. 412
87 वही, पृ. 415
88 वही, पृ. 422
89 त्रिशंकु – अज्ञेय, पृ. 127
90 वही, पृ. 129
91 वही, पृ. 129
92 वही, पृ. 130

अध्याय–छः

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन

6.1 अज्ञेय के आलोचना कर्म का मूल्यांकन

6.2 मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का मूल्यांकन

6.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन

6.1 अज्ञेय के आलोचना कर्म का मूल्यांकन

हिन्दी–आलोचना और आलोचना शास्त्र में अज्ञेय ने संस्कृत काव्यशास्त्र के बुनियादी चिंतन को ग्रहण करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की चिंतन परम्परा को नया अर्थ प्रदान किया। अज्ञेय ने इस परम्परा का नया पाठ, नया भाष्य पाठकों तक पहुँचाने में लगभग पाँच दशकों तक आलोचना कर्म जारी रखा। हालांकि अज्ञेय की आलोचना कर्म पर पाश्चात्य आलोचकों का प्रभाव होने का आरोप लगता रहा है। जिनमें टी.एस. इलियट, लारेन्स, पाउण्ड के साथ 'न्यू क्रिटिसिज़्म' आदि के प्रभाव की चर्चा प्रमुख है।

अज्ञेय ने साहित्य और साहित्यालोचन से संबंधित चिंतन को 'सर्जना और संदर्भ' पुस्तक में संकलित किया। यह कहना गलत न होगा कि वे हिन्दी में नये समीक्षाशास्त्र की भूमिका को मजबूत आधार देने वालों में से एक रहे। 1945 में 'त्रिशंकु' नाम से उनकी चिंतन आधारित निबंधों की पुस्तक प्रकाशित हुई। हालांकि ये निबंध 1938 के आस–पास के ही लिखे प्रतीत होते हैं। 1982 में 'धार और किनारे' का प्रकाशन हुआ जिसमें लगभग पैंतालीस वर्षों का भाषा–संस्कृति–परम्परा–आधुनिकता आदि को लेकर गंभीर चिंतन है। यह कहना सही होगा कि अज्ञेय औपनिवेशिक गुलामी से पाठक को मुक्ति दिलाने वाला साहित्यालोचन यहाँ निर्मित कर रहे थे।

'सर्जना और संदर्भ' में संकलित निबंधों के क्रम को रचना का क्रम भी माना जा सकता है; जिसमें अज्ञेय के चिंतन के विकास क्रम को पूरे परिदृश्य में देखने में आसानी होगी। चिंतन क्रम में रूढ़ि (परम्परा) और मौलिकता (आधुनिकता) के द्वन्द्व को युगों–संदर्भों–प्रकरणों में रखकर जाँचने की कोशिश की गई है। इसके अलावा 'कला का स्वभाव और उद्देश्य', 'परिस्थिति और साहित्यकार', 'साहित्य किसके लिए', 'संक्रांति काल की कुछ साहित्यिक समस्याएं', 'राजनीति और साहित्य', 'सौन्दर्यबोध और शिवत्वबोध', 'साहित्य बोध : आधुनिकता के तत्त्व', 'रचना और प्रक्रिया', 'नयी कविता', 'शब्द–मौन अस्तित्व', 'लेखक और परिवेश', 'लेखक की स्थिति', कविता श्रव्य से पाठ्य तक', 'काल का डमरूनाद', 'उन्मेषशालिनी प्रतिभा', 'ललित, व्यक्तिव्यंजक, व्यक्तित्वरंजित', 'भाषा और अस्मिता', 'रचनात्मक भाषा और संप्रेषण की समस्याएं', 'आचार्य सम्प्रेषण : कथा भाषा की समस्याएं', 'साहित्य और

सामाजिक प्रतिबद्धता' आदि अनेक चिंतनपरक निबंध नये संदर्भों में वैचारिक रूप में नयी अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

अज्ञेय की आलोचना कर्म की खूबी यह है कि वे नये–पुराने साहित्य के समक्ष मौजूद नयी चुनौतियों को उभारकर सामने लाते हैं। वह इस बात का हमेशा ध्यान रखते हैं कि 'मौलिक' विचार का कोई दावा यहाँ नहीं है; क्योंकि उसे तो कोई विरला अभिनवगुप्त, आनंदवर्धन, कुंतक, भामह, महिमभट्ट और राजशेखर ही लाता है। उल्लेखनीय है कि हिन्दी साहित्यालोचन में भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल आचार्य हजारीप्रसाद और नामवर सिंह मौलिक विचार–चिंतन करने में प्रमुखता रखते हैं।

आज पिछले छह–सात दशकों की हिन्दी आलोचना इस बात की गवाह है कि अज्ञेय का चिन्तर लगातार विमर्श के केन्द्र में रहा है। रचनाकार–आलोचकों में अज्ञेय स्वातंत्र्योत्तर सर्जनात्मक आलोचना में सर्वाधिक विद्रोही–स्वभाव के आलोचक रहे हैं। भाषा, साहित्य, संस्कृति, मिथक, सौन्दर्य चेतना के सम्बन्ध में परम्परागत अवधारणाओं की आलोचना तथा परम्परा–प्रगति–प्रयोग, आधुनिकता, काव्य–सत्य, व्यक्ति और समाज, स्वाधीनता और निरंतरता, रचनाकार और राजाश्रय, सांस्कृतिक अस्मिता, जातीय–स्मृति, भाषा और औपनिवेशिक मानस जैसी अवधारणाओं का नया भाष्य उनके आलोचना–कर्म का अनिवार्य अंग रहा है।

अज्ञेय के आलोचना कर्म का मुख्य बीज बिन्दु और विस्तार भवंती, अंतरा, त्रिशंकु, शेषा, शाश्वती, स्मृतिलेखा, स्मृतिछंदा, आलवाल, अद्यतन आदि पुस्तकों में पाया जा सकता है। इसके अलावा उनकी अनेक व्याख्यान–मालाओं, सम्पादित पुस्तकों की भूमिकाओं, स्वतंत्र लेखों, पत्रकारिता के समय लिखे गये निबंधों – वक्तव्यों, यात्रा–संस्मरणों, वाद–विवाद–संवादों और अनुवाद कर्म से संबंधित कार्यों में उनका आलोचनात्मक विवेक दिखलायी पड़ता है।

अज्ञेय ने आलोचना पर कोई स्वतंत्र पुस्तक या ग्रंथ नहीं लिखा। वे जैसे प्रश्नाकुल कवि हैं, वैसे ही प्रश्नाकुल आलोचक भी हैं। उनके कई लेख संवाद शैली में लिखे गये हैं – उदाहरण के लिए 'केशव की कविताई'। आलोचना पर विशेष पुस्तक न लिखना उनकी कमजोरी नहीं मानी जा सकती है। उनके आलोचनात्मक विचार लेखों, गोष्ठी–वक्तव्यों, डायरियों, यात्रा–संस्मरणों, साहित्यिक–संस्मरणों, कविताओं और पत्रकारिता से जुड़े लेखों – संदर्भों, संपादकीयों आदि में फैले हुए हैं। जिनकी संख्या लगभग आठ सौ है।

रचना–कर्म और आलोचना–कर्म दोनों का सामाजिक दायित्व है कि वह देश और काल में निरंतर बदलते हुए मनुष्य को पारिभाषित करे। सही मायने में आलोचक का काम कृति की संवेदना और सौन्दर्य चेतना से पाठक का साक्षात्कार कराना है। अज्ञेय ने अपने आलोचना कर्म के केन्द्र में पाठक और संप्रेषण को ही महत्त्वपूर्ण माना है।

अज्ञेय ने काव्य–भाषा के मूल सवाल को उठाते हुए यह कहा कि शब्द में अर्थ कहाँ से आता है; क्यों और कैसे बदलता है। जब शब्द के अर्थ का चमत्कार ख़त्म हो जाता है तब वह केवल अभिधा के समान रह जाता है। इस प्रकार कवि के समक्ष सदैव अर्थ–चमत्कार की समस्या बनी रहती है। वे लिखते हैं – "जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय हो जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है।"[1]

अज्ञेय ने 'शब्द, मौन, अस्तित्व' निबंध में सवाल उठाया कि "लेखक क्यों लिखता है? क्या वह पागल है? मौलिकता क्या निरंतर आखिरकार है? कला के क्षेत्र में वास्तव में नया कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि जो नयेपन का एक आभास देता है, वह नये रूप में तब तक प्रतिष्ठित नहीं होता, जब तक कि हम उसमें अथवा उसके द्वारा जो कुछ उससे पहले था, उसके नये मूल्यांकन का आधार न पा ले और उससे एक अर्थनाम सम्बन्ध न स्थापित कर ले।"[2]

अज्ञेय के रचना–कर्म और आलोचना कर्म की प्रमुख खोज शब्दों की खोज रही है। वे लिखते हैं – "मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निसंदेह, लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्व रखता है।"[3]

अज्ञेय के आलोचना कर्म में काल चिंतन की अपूर्व व्याख्या और पुनर्व्याख्या है। पहले 'आलवाल' के निबंधों में काल–चिन्तन की कवि मानसिकता निर्मित हुई है। आगे चलकर इसी मानसिकता का विकास 'संवत्सर' में नये आयामों से हुआ है। काल और बोध को लेकर अज्ञेय ने गंभीर चिंतन किया है। वे काल को एक गतिमय प्रवाह और धारा मानते हैं जबकि अनुभव निरंतर बोध को जीवन्त करता है, स्मृति से जुड़ जाता है। संवत्सर में वे लिखते हैं – "हमारा

अनुभव हमें अनुक्षण बताता रहता है कि अपनी गत्वरता में भी काल सम–गति कभी नहीं होता – उसकी गति केंचुए की तरह कभी लम्बी होती और कभी सिकुड़ती रहती है।"[4] अज्ञेय का एक प्रसिद्ध निबंध 'काल का डमरूनाद' है। यह निबंध अज्ञेय के काल चिंतन अर्थात् – आधुनिकता के द्वन्द्व की सर्जनात्मकता का मजबूत प्रमाण देता है। उन्होंने यह याद दिलाना जरूरी समझा कि 'प्रयोग' की निन्दा के लिए 'परम्परा' को महत्त्वपूर्ण मानने का कोई अर्थ नहीं। 'परम्परा' कवि के लिए पोटली बाँधकर अलग रखी चीज नहीं है, जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिए तभी अर्थ है, जब वह आत्मसात् होकर 'गहरा संस्कार' बन जाती है। कवि को संस्कार देने वाली परम्परा ही कवि की परम्परा है, इसके सिवा वह शास्त्र और इतिहास ही है। इसीलिए प्रयोग उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करना चाहता है। अज्ञेय लिखते हैं – "प्रयोगों के द्वारा ही कोई भी रचनात्मक कार्य आगे बढ़ सका है, इसलिये कला में निरंतर अन्वेषण–प्रयोग करने में ही कवि–कर्म की सिद्धि निहित है। इसी निरंतरता से प्राप्त कवि–कर्म की सिद्धि के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि–पाक का सिद्धान्त सामने आया।"[5]

साधारणीकरण और संप्रेषण को लेकर अज्ञेय ने तार सप्तकों की भूमिकाओं में गंभीरता से विचार किया है। इनसे जो नवीन स्थापनाएं निर्मित हुईं उनसे हिन्दी आलोचना को एक दृढ़ आधार मिला। अज्ञेय ने कवि–कर्म से जुड़ी हुई अनेक बहसों को केन्द्र में लाकर नवीन अवधारणाओं का विकास किया। श्रव्य से पाठ्य तक की कविता में जो बदलाव आये, उनसे पाठक के काल–बोध के चिंतन का विकास हुआ। इसका कारण अज्ञेय प्रेस और छापाखाना को मानते हैं। यह कहना गलत न होगा कि इसके पहले साहित्य में काल बोध की समस्या पर इतनी गंभीरता और एकाग्रता से कोई आलोचक चिंतन किया हो; जितना कि अज्ञेय ने किया।

अज्ञेय अपने आलोचना कर्म में इस बात पर जोर देते हैं कि साहित्य का आलोचक वही है, जो समाज और संस्कृति की बात करता है। समाज वही है, जिसमें संवाद है। जिसमें संवाद नहीं है, वह समाज नहीं है। अज्ञेय लिखते हैं – "संस्कृति की बात मैं काफी अरसे से करता आया हूँ, उस जमाने में भी मैं संस्कृति की बात करता था और कर सकता था, जबकि संस्कृति का नाम लेना अपने को घूरे पर फेंक देने लायक मानने के बराबर था या फिर उन

लोगों के साथ जुड़ने की संभावना उससे पैदा हो जाती थी, जिनसे हम घृणा करते थे और जिनसे घृणा करनी चाहिए। क्योंकि वे संस्कृति को मानव जाति की हत्या का ही एक तरह का साधन बनाना चाहते थे।"[6]

अज्ञेय ने 'आलोचना है, आलोचक हैं, आलोचक चाहिए' लेख में लिखा है – "मैं तो उन लोगों में से हूँ जो मानते आये हैं कि समाज वही है जिससे हम आँख मिलाकर बात कर सकते हैं। उसके बावजूद कि मैं एक घोषित व्यक्तिवादी समाजद्रोही इत्यादि–इत्यादि सब हूँ। मैं दूसरों से आँख मिलाकर बात कर सकता हूँ। इसलिए मैं नहीं पाता कि मेरा कोई समाज नहीं है। लेकिन ऐसे भी लोग हैं, जिनको समाज की चिन्ता है ऐसे भी लोग हैं जो अपने को समाजवादी और जनवादी भी कहते हैं, लेकिन जो दूसरों से आँख मिलाकर बात करने को तैयार नहीं है।"[7]

अज्ञेय ने रूपवाद–कलावाद–व्यक्तिवाद को आलोचना में कभी स्वीकार नहीं किया। उनका इस बात पर जोर था कि संस्कृति, परम्परा, इतिहास, संवाद, समकालीनता आदि पर गंभीर विचार–विमर्श तो होता है लेकिन भाषा पर बात क्यों नहीं होती। उनके आलोचना कर्म का यह प्रमुख सवाल रहा है। वे लिखते हैं – "मेरा ख़्याल है कि भाषा के बिना इनमें से किसी पर भी बात नहीं हो सकती। क्योंकि भाषा के बिना न इतिहास है, न संस्कृति है, न परम्परा है, न साहित्य है, न समालोचना है।"[8]

अज्ञेय ने भाषा अस्मिता और अस्तित्व का सवाल उठाकर बार–बार ध्यान दिलाया कि भाषा ही स्मृति है, इतिहास है, मिथक है, परम्परा है, गल्प कोष है। इसी कारण यदि कविता में कोई सत्य होता है तो वह भाषा में ही मौजूद रहता है। कला कृति को परखने की कसौटी नये सौन्दर्यबोध में निहित रहती है। कलाकृति में काव्यत्व क्या है और उसमें नया क्या है? कविता में नयी कविता क्या है और 'नयी' के साथ 'कविता' को 'नयी कविता' के रूप स्थापित करना अज्ञेय के आलोचना कर्म का केन्द्र बिन्दु रहा है। हालाँकि उनके प्रतिमान या कसौटी का विरोध छायावादी प्रगतिवादी आलोचकों ने किया। लेकिन अज्ञेय उनसे लगातार वैचारिक संघर्ष करते रहे। इसी कारण हिन्दी आलोचना में मार्क्सवादी और रसवादी आलोचकों का सामना अज्ञेय से होता रहा जिसमें इनका वैचारिक संघर्ष मुक्तिबोध से ही था।

रस–सिद्धान्त, रस विकास और रसवाद से अज्ञेय कभी संतुष्ट नहीं रहे। उनके साथ नयी कविता के लगभग सभी रचनाकारों ने भी रस–चिन्तन के प्रतिमान को अस्वीकार किया। हरिऔध का 'रसकलश' आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'रस मीमांसा', डॉ. नगेन्द्र का 'रस सिद्धान्त' आदि अज्ञेय के लिए अनुपयोगी साबित हुए। अज्ञेय का मानना है कि अब कोई भी साकेत, कामायनी, और अंधायुग के अंगी रस खोजने की कोशिश नहीं करता। इसका कारण है कि नयी कविता का भाव बोध तनावग्रस्त एवं तमाम संशयों से भरपूर है। अज्ञेय इसका कारण स्पष्ट करते हैं –

1. रस का आधार है समाहिति, अद्वन्द्व। किन्तु नयी कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है।

2. नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, जबकि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है – नयी कविता का विषय है, क्षण की अनुभूति। जबकि रस का आधार है – वासना और स्थायी भाव।"[9]

हिन्दी आलोचना में स्त्री–विमर्श को लेकर अज्ञेय का दृष्टिकोण क्या रहा है, यह प्रमुख सवाल है। इसका सही जवाब जानने के लिए अज्ञेय के रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों कर्मों को जानना होगा। अज्ञेय के कथा साहित्य में स्त्री–विमर्श को लेकर उनके विचार स्त्री स्वतंत्रता के पक्ष में है। वे पुरुष–सत्तात्मक समाज को ढ़ोने के पक्ष में नहीं हैं। स्त्री स्वतंत्रता का एक विमर्श–नारी की यौन–स्वच्छन्दता का प्रश्न 'नदी के द्वीप' की रेखा को लेकर उठता है। स्त्री स्वतंत्रता के सवाल को लेकर अज्ञेय लिखते हैं – "स्त्री को माँ, बहिन, बहू, बेटी इत्यादि ही मानना; वास्तव में उसके निजी व्यक्तित्व को नकारना है। स्त्री को हमेशा रिश्ते के किसी पुरुष माध्यम से देखना समाज को पुरुष संचालित मानने का ही एक विस्तार है। स्त्री अपने आप में कुछ नहीं, उसका अपना व्यक्तित्व कुछ नहीं है, उसके लिए केवल कर्मों और कर्त्तव्यों का एक समूह है, एक 'रोल' है जो इस दृष्टि से निर्धारित होता है और क्योंकि इस तरह पुरुष–समाज बड़ी आसानी से नारी के व्यक्तित्व की सत्ता को ही नकार जाता है, इसलिए आज उस कथित पूजा – भाव का ही कोई अर्थ नहीं रहता। जिस समाज में नारी को व्यक्तित्व ही नहीं दिया जाता, उसमें नारी की पूजा भी नहीं होती; न हो सकती है, उसमें इस पूजा का अर्थ – 'स्वार्थ पूजा' या 'पेट पूजा' वाली पूजा से अधिक नहीं रहता।"[10]

अज्ञेय का आलोचना–कर्म अपने समय की रचनाशीलता और रचनात्मक संवेदना से गहरी संपृक्ति के कारण अपने युग के तीखे सवालों से टकराता है। चाहे वे सवाल आधुनिकतावाद, मार्क्सवाद–फ्रॉयडवाद, नयी समीक्षा, अस्तित्ववाद आदि हों, सभी से अज्ञेय बौद्धिक संवाद करते हैं। अज्ञेय के आलोचना–कर्म पर सवाल उठाने से पूर्व इतिहास और स्वातंत्र्यबोध, निरंतरता और स्वतंत्रता, स्वाधीन कृतत्व का ऊर्जा स्रोत, मेरी स्वाधीनता सबकी स्वाधीनता सभ्यता का संकट, समग्र परिवेश की राजनीति, रूढ़ि और मौलिकता, कथा भाषा : समस्या के कुछ पहलू, भाषा, कला और औपनिवेशिक मानस तथा साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया जैसे चिंतन प्रधान निबंधों पर ध्यान देना चाहिए।

अज्ञेय ने अपनी व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत हिन्दी के तीन मध्ययुगीन कवियों पर गंभीर चिंतन किया है। इनमें तुलसीदास, कबीर और केशवदास प्रमुख हैं। इन तीनों में कबीरदास के साथ होने वाले अन्याय को अज्ञेय सहन नहीं कर पाते। वे लिखते हैं – "अपने समय में कबीर कवि के रूप में नहीं माने जाते थे, उसके बाद काफी अरसे तक किसी ने यह नहीं सोचा होगा कि कबीर को भी कवि के रूप में देखा जा सकता है। आज हम कबीर को कवि ही नहीं, क्रांतिकारी कवि भी मानने लगे हैं।"[11] उल्लेखनीय है कि कबीर को कवि मानने में तीन–चार सौ साल लग गये। आज हिन्दी आलोचना में यह प्रतिमान भी मिल चुका है कि कबीर–तुलसी की रचनाएं हमें भीतर से बदलती हैं। अज्ञेय सवाल उठाते हैं कि इसे समझने इतना समय क्यों लगा?

आधुनिक हिन्दी साहित्य में अज्ञेय ने अपने गुरु जिन्हें वे प्यार से 'दद्दा' कहते थे, मैथिलीशरण गुप्त पर बार–बार विचार किया है। अज्ञेय लिखते हैं – "जब से हिन्दी बोलना और फिर लिखना सीखा, उन्हीं की कविता पर पलकर किशोर हुआ।"[12] हिन्दी आलोचना में मैथिलीशरण गुप्त का उचित मूल्यांकन न होने पर अज्ञेय अफसोस जताते हैं। इनके अनुसार, हिन्दी आलोचना की विडम्बना देखिए कि 'दद्दा' को कड़े हिन्दुत्ववादी कहकर, तुकाराम कहकर अवमूल्यन का शिकार बनाया गया है। अज्ञेय मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं – "लेकिन पचास वर्ष से अधिक समय तक हिन्दी काव्य जगत पर छाये रहकर भी वह कैसे परम्परा से बिना नाता तोड़े, नये चिंतन को भी आत्मसात करते हुए युवतर पीढ़ी के लिए एक चुनौती बना रह सके, यह हर नये लेखक के लिए समझने की बात है। परम्परा

को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है; इसका उदाहरण 'हिन्दू' से लेकर 'यशोधरा' तक की उनकी काव्य–यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है; बल्कि यह भी दिखाती है कि परम्परा को तोड़े बिना कैसे उसे अगत करते हुए उससे मुक्त हुआ जा सकता है।"[13]

उपन्यास लेखन को लेकर अज्ञेय के कई लेख हैं। हिन्दी, भारतीय और विश्व के स्तर पर किये गये औपन्यासिक लेखन के वस्तुगत मूल्यांकन से लेकर प्रेमचंद और परवर्ती अनेक उपन्यासकारों – अश्क, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद जोशी, रांगेय राघव, यशपाल, अमृतलाल नागर के यहाँ शिल्प; तकनीक और अन्य प्रयोगों का मूल्यांकन करते हुए वे इस मत पर पहुँचते हैं कि आख्यान साहित्य ने प्रेमचंद के आख्यान साहित्य से आगे का सफर तय किया है; किन्तु मुख्य रूप से शिल्प की दिशा में।

अपने आलोचना–कर्म में अज्ञेय ने पाठकों का साहित्य से कटने के सवाल को प्रमुखता से उठाया है। उनको यह चिन्ता थी कि पाठक साहित्य से कट रहा है तो इसकी जवाबदेही कहीं–न–कहीं उस समय के अध्यापक–आलोचक वर्ग पर भी है जिसके द्वारा बनाये जा रहे समाज से न तो अच्छे पाठक निकल रहे हैं और न अच्छे आलोचक या कवि। कथा भाषा तथा यथार्थ संप्रेषण की समस्या भी पाठक के सामने आती है जिसके कारणों पर अज्ञेय गंभीरता से विचार करते हैं।

अज्ञेय व्यक्ति की स्वाधीनता, आत्मबोध और आत्मपरिष्कार पर बल देने वाले आलोचक हैं। नए रूप और प्रयोगों के समर्थक हैं। आधुनिकता को प्रचलित करने वालों में से हैं भारतीय सभ्यता, संस्कृति और जीवन–मूल्यों के चिंतक हैं गौरतलब है कि जब एक कवि आलोचना के क्षेत्र में आता है तब उसके सामने दो प्रमुख बाधाएँ होती हैं – पहली भाषा की और दूसरा वस्तुनिष्ठता की। वह सर्जनात्मक आलोचना तो लिखता है इसका कारण उसमें काव्यात्मक प्रवाह का होना है। नई कविता का एक व्यापक फलक है। इसने हिन्दी कविता को नयी संवेदना और भाषा की नई भंगिमाओं से परिचित कराया। इस संदर्भ में अज्ञेय की टिप्पणियों, सप्तकों की भूमिकाओं का योगदान है। यह कहना गलत न होगा कि सप्तकों की भूमिका वस्तुतः नई कविता के मूल्यांकन की चाबी है। अज्ञेय आलोचक का एक बड़ा वृत्त बनाते हैं जो देश और काल सहित सभ्यता, संस्कृति, भाषा सौन्दर्य, आधुनिकता, परम्परा, इतिहास,

स्वाधीनता, संप्रेषण, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा प्रासंगिकता पर बेबाकी और गहराई से विचार करता है। अज्ञेय ने अपने आलोचना–कर्म में प्रश्नोत्तर शैली को भी अपनाया है। इस शैली के उदाहरण के रूप में 'केशव की कविताई' प्रमुख निबंध है।

अज्ञेय के आलोचना–कर्म की गहराई और व्यापकता पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। अक्सर उनके आलोचक पक्ष की हिन्दी आलोचना में उपेक्षा ही रही है। अज्ञेय के चिन्तन को पश्चिम या यूरोप की नकल कहकर खारिज किया जाता रहा है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना से अज्ञेय को मुकाबला करना पड़ा। इससे अज्ञेय को अमेरिकी पूँजीवादी दलाल, कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम का एजेन्ट, रूपवादी, कलावादी, भाववादी, व्यक्तिवादी तथा लघुमानव सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक होने का आरोप भी झेलना पड़ा। हालांकि अज्ञेय ने 'सौन्दर्यबोध और शिवत्वबोध' का समर्थन किया तथा स्वच्छन्दतावादी और रसवादी चिन्तन के विरोध का प्रतिनिधित्व किया।

अज्ञेय के आलोचना–कर्म के कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो हिन्दी आलोचना में प्रमुख स्थान रखते हैं –

"मिला बहुत कुछ : सब बेपेंदी का। शिक्षा मिला, उसकी नींव भाषा नहीं मिली। आजादी मिली, उसकी नींव आत्म–गौरव नहीं मिला। राष्ट्रीयता मिली, उसकी नींव अपनी राष्ट्रीय पहचान नहीं मिली। यानी आजादी में जन्में–पले मुझको – आजादी के आदि पुरुष का चेहरा मिला, व्यक्ति मिला। और बिना व्यक्तित्व के चेहरा क्या होता है?"[14]

"लेखक है? आजाद है? मारो स्साले को। पिटाई से न सधे तो बदनाम करो; संखिया धतूरा कुछ खिला दो, पागलखाने में डाल दो। ये सब भी बेकार हो जावे तो शाल–दुशाला, पद पुरस्कारों से लादकर कुचल दो वह तो ब्रह्मास्त्र है।"[15]

"चिन्तन 'प्रसाद' ने अधिक किया। काव्य निराला का श्रेष्ठ है। शब्द का ज्ञान पंत का सबसे सूक्ष्म है। 'प्रसाद' पढ़ाये जाएंगे। पंत से सीखा जाएगा। 'निराला' पढ़े जाएंगे।"[16]

"ऐसा होता है कि संस्कृतियां अपनी सर्जनशीलता खो बैठती हैं वे अपनी आत्मा खो बैठती हैं और तब उनमें यह समझने की भी अन्तर्दृष्टि नहीं रहती कि उनके जीवन का हेतु क्या रहा, क्या है। भारतीय संस्कृति आज वैसे ही किसी बिन्दु पर पहुंच गयी है? उसने अपनी

सर्जनशीलता खो दी है, उसके अस्तित्व का हेतु क्या रहा, यह पहचानने की अन्तर्दृष्टि जैसे उसके पास नहीं है। अपने जीने का कारण खोजने के लिए वह पराया मुँह जोह रही है।"[17]

"यों स्मृति के बिना काल नहीं है। सातत्य नहीं है, कालक्रम नहीं है, सनातनता नहीं है; प्रवाह नहीं है, केवल क्षण का समुत्पाद है।"[18]

6.2 मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म का मूल्यांकन

मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के मूल्यांकन में कुछ समस्याएं सामने आती हैं। इसका कारण उनकी आलोचना की कोई सुव्यवस्थित पुस्तक का न होना है। हालांकि बाद में नेमिचंद्र जैन ने मुक्तिबोध रचनावली के छह खण्डों का संपादन किया जिसमें चौथा और पाँचवा खण्ड आलोचना पर आधारित है। 'कामायनी : एक पुनर्विचार को छोड़कर मुक्तिबोध का आलोचनात्मक लेखन कर्म फुटकर प्रकृति का ही है। हिन्दी आलोचना में मुक्तिबोध को कवि तो आसानी से मान लिया जाता है, लेकिन आलोचक मानने में आलोचकों को हिचक महसूस होती है। मुक्तिबोध का रचना–कर्म जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण उनका आलोचना–कर्म भी। इन दोनों के माध्यम से हिन्दी साहित्य का विकास हुआ है।

हिन्दी में रचनाकार–आलोचकों की एक परम्परा रही है। मुक्तिबोध से पूर्व छायावादी कवियों ने अपने आलोचनात्मक लेखन द्वारा अपनी रचना की पृष्ठभूमि को समझाने का प्रयास किया तथा एक नया रास्ता बनाया। आगे चलकर मुक्तिबोध ने भी यही काम किया। मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म के दो संदर्भ हैं – प्रगतिवाद और आधुनिकतावाद। प्रगतिशील लेखक संघ (1936) की स्थापना के साथ ही हिन्दी आलोचना में मार्क्सवादी लेखन का प्रारम्भ होता है। मुक्तिबोध के आलोचना कर्म की शुरुआत से पहले हिन्दी मार्क्सवादी आलोचना प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, प्रकाशचंद गुप्त और रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक के रूप में स्थापित हो चुके थे। उनका लेखन मुक्तिबोध के सामने मौजूद था। उसी समय मार्क्सवादी दृष्टि के विरोध में अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगवादियों ने आधुनिकतावादी दृष्टि सामने रखी। इस प्रकार मार्क्सवादियों और प्रयोगवादियों में संघर्ष हुआ। मुक्तिबोध ने इस संघर्ष में भाग लिया। यह कहना गलत न होगा कि मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म की शुरुआत इसी संघर्ष से हुई।

मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) आलोचना की कमियों की ओर संकेत करते हुए वस्तुनिष्ठ आलोचना पद्धति के विकास पर जोर दिया। लेकिन ध्यान देने वाली बात है कि जिस प्रकार वे मार्क्सवादी आलोचना की कमियों को सुधारने का आग्रह करके उसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखाते हैं, उसी प्रकार आधुनिकतावादी आलोचना के प्रति नहीं। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने अपना सकारात्मक चिन्तन सामने रखने की कोशिश की।

मुक्तिबोध के आलोचना कर्म की एक खास विशेषता है कि वे अपने किसी विरोधी आलोचक को उद्धृत करके उससे बहस नहीं करते। उसके वक्तव्यों में निहित विचार को वे अपने चिंतन का विषय बनाते हैं। बाद में उसके तर्क की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इस प्रक्रिया में वे उस आलोचक के चिंतन की असंगति को सामने लाते हैं। हालांकि उनका लक्ष्य अपने विरोधी आलोचकों को ध्वस्त करने का नहीं है। बस उसकी बात को पाठकों तक संप्रेषित करना चाहते हैं।

मुक्तिबोध आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस मान्यता से अपनी बात शुरू करते हैं कि कविता भाव–व्यापार है। यह भाव व्यक्ति का व्यक्तिबद्ध नहीं है। यह उसके सामाजिक संपर्क में आता है। वह संसार का आभ्यंतरीकरण करता है। बाद में इस आभ्यंतरीकरण को वह बाह्य रूप देता है। इस प्रकार जटिल द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का प्रारंभ होता है। यहीं से ज्ञानात्मक संवेदना तथा संवेदनात्मक ज्ञान का भी प्रारंभ होता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "साहित्य विवेक मूलतः जीवन–विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति के विश्लेषण की तो बात ही क्या। बगैर जीवन को जाने, बगैर जिंदगी को पहचाने, जो आलोचक केवल जीवन की गूंजों (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है; उसको किसी न किसी हद तक यांत्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है। ... सच्ची बात तो यह है कि आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह उस जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने। तभी वह लेखक द्वारा कलात्मक रूप में उपस्थित जीवन तथा जीवन रूप में उपस्थित कला की सच्चाई, ऊँचाई या निचाई को पहचान सकता है।"[19]

सही मायने में कला के सवाल जीवन के सवाल हैं। यह बात प्रगतिवाद के बाद लगभग भुला दी गयी। इस कारण अपने चिंतन के शुरुआत में ही मुक्तिबोध को जोरदार ढंग से कहना पड़ा कि वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान प्राप्त किये बिना साहित्य को समझना मुश्किल है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है तो, समीक्षक को तो यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तवकि जीवन है या नहीं। असल में, कसौटी वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान ही है; जो न केवल लेखक और

समीक्षक में होता है, वरन् पाठक में भी रहता है। वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति किसी की बपौती नहीं है। इसी समीक्षा–शक्ति के सहारे बड़े–बड़े व्यक्तित्वों का निर्माण होता है।"[20]

मुक्तिबोध ने आलोचना में आलोचक के 'व्यक्तित्व की सतह' का सवाल उठाकर आलोचना–प्रक्रिया की समस्या को नया मोड़ दिया। साहित्य में रचनाकार केवल पात्रों का चरित्र–चित्रण नहीं करता, बल्कि वह अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी करता है। या यह कहा जाय कि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही उसका मूल उद्देश्य होता है। सर्वप्रथम छायावादी कवियों के संदर्भ में यह सवाल उठा था। इसके बाद अज्ञेय ने कलाकार के व्यक्तित्व की विशिष्टता पर बल देकर उसे मार्क्सवाद या प्रगतिवाद–विरोध का हथियार बनाया।

मुक्तिबोध ने इस सवाल को बिल्कुल नये तरह से उठाया। उन्होंने स्वीकार किया कि कविता में कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है और होनी भी चाहिए। उनके अनुसार सिर्फ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही काफी नहीं है; बल्कि हमें उस व्यक्तित्व की मूल्य–समीक्षा भी करनी चाहिए। इस प्रकार आलोचक का व्यक्तित्व बहस से अलग का विषय नहीं है। यह तो आलोचना में निर्णायक भूमिका निभाता है।

हिन्दी आलोचना में जीवनानुभूति और रसानुभूति का सम्बन्ध आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है। इसके बाद मुक्तिबोध इस सवाल पर लगातार नये तरह से सोचते हैं इसी सवाल पर मुक्तिबोध ने प्रगतिशील आलोचना की सर्वाधिक तीखी आलोचना भी की है। वे लिखते हैं – "जो मात्र क्रांतिकारी शब्दों का शोर खड़ा करने वाले के हिमायती के रूप में अपने सिद्धान्तों की यांत्रिक चौखट तैयार रखते हैं – जो उसमें फिट हो जाए वह प्रगतिशील, और जो उसमें कसा न जा सके वह प्रगति विरोधी।"[21]

मुक्तिबोध के अनुसार – "केवल वही समीक्षा महत्त्वपूर्ण होती है जो संवेदनात्मक जीवन सत्य उद्घाटित करते हुए लेखक को अपने वस्तु–सत्यों से अधिक परिचित–सचेत करती है। लेखक जीवन की मनोवृत्तियों, स्थितियों आदि–आदि का अंकन करने का प्रयत्न करता है। समीक्षक को इन जीवन–सत्यों से अधिक परिचित होने की आवश्यकता है, तभी वह लेखक की सहायता कर सकता है; उसकी चेतना की परिधि विस्तृत कर सकता है, अन्यथा नहीं।"[22]

संस्कृत काव्यशास्त्र और हिन्दी आलोचना में अब तक 'सहृदय' को मुख्य विषय बनाकर चिंतन होता रहा है। हिन्दी पाठकों के लिए यह चिंतन जाना–पहचाना है, लेकिन रचनाकार आलोचक 'रचना–प्रक्रिया' से रचना तक पहुंचना एक नया अनुभव कहा जा सकता है। इस रचना–प्रक्रिया को छायावादियों ने व्यवस्थित रूप में और आधुनिकतावादियों ने रहस्यमय बना रखा था। गौरतलब है कि इस क्षेत्र में प्रगतिशील आलोचना का प्रवेश नहीं हुआ था। मुक्तिबोध ने पहली बार इस चुनौती को स्वीकार किया और मार्क्सवादी प्रगतिशील आलोचना के परिप्रेक्ष्य में रचना–प्रक्रिया सम्बन्धी सवालों के उत्तर दिये।

मुक्तिबोध ने सौन्दर्य प्रतीति की समस्या पर गंभीर चिंतन किया है। उनका मानना है कि पाठक से रचना तक पहुंचना और रचनाकार से रचना तक पहुंचने तक का मार्ग अलग है। केवल मार्ग ही अलग नहीं है, बल्कि निष्कर्ष भी अलग होते हैं। मुक्तिबोध ने रचनाकार के दृष्टिकोण से 'रचना' का मूल्यांकन आवश्यक माना है। इसे वे दो प्रकार से देखते हैं – पहला, कविता में कवि का व्यक्तित्व प्रकट होता है, उसे प्रकट होना चाहिए, दूसरा, काव्य–रचना केवल मनोवैज्ञानिक–प्रक्रिया नहीं है, बल्कि एक 'सांस्कृतिक–प्रक्रिया' है इस प्रकार कविता की रचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानकर मुक्तिबोध ने रचना–कर्म की व्यक्तिवादी धारणा का खण्डन कर दिया। उन्होंने रचना–कर्म के तीन क्षणों की परिकल्पना की। पहला क्षण – जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव, दूसरा क्षण – इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए भूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने खड़ी हो, तीसरा क्षण – इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।

काव्य–रचना के प्रथम क्षण को संगत रूप से जीने के लिए कवि को विश्वदृष्टि प्राप्त करनी पड़ती है। यहाँ मुक्तिबोध दो मौलिक सिद्धान्त निर्मित करते हैं – पहला, विचारधारा (विश्वदृष्टि) कला–रचना के बाहर का तत्त्व नहीं है। वह रचना–प्रक्रिया का प्रमुख अंग होती है। यहाँ मुक्तिबोध ने आधुनिकतावादियों की विचारधारा के विरोध सम्बन्धी तर्क का जोरदार तरीके से खण्डन किया है। दूसरा, जीवनानुभव की तरह विश्वदृष्टि भी रचनाकार को पड़ी हुई नहीं मिलती बल्कि उसे पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक जानकारी पा लेना विश्व दृष्टि पाना नहीं होता। रचना के लिए जरूरी विश्वदृष्टि विश्व के भीतर से उभरकर आना चाहिए।

इसलिए मुक्तिबोध एक नये 'रचनाकार चरित्र' पर बल देते हैं। यह विश्वदृष्टि बनती कैसे है, इसके विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "प्रतिक्रियाएं तो मन करता ही है; किन्तु वे सही हैं या गलत, इसके लिए कुछ सोचना–विचारना भी पड़ता है। यह सोच–विचार निर्जन शून्य में नहीं हो सकता। इसके लिए कुछ पढ़ना पड़ेगा, कुछ अध्ययन करना पड़ेगा और दूसरों के अनुभवों और विचारों को भी, इस सम्बन्ध में, जानना पड़ेगा। मतलब यह कि इस काम में जितनी दूर तक और जितनी गंभीरता से आगे बढ़ेंगे, आपकी प्रतिक्रियाओं और विचारों में उतनी व्यवस्था आती जायेगी। बस, इसी व्यवस्था को लोग, आगे चलकर, सिद्धांत कहते हैं।"[23] मुक्तिबोध इसी को 'विश्वदृष्टि' कहते हैं।

सवाल उठता है कि यदि किसी रचनाकार के पास 'विश्वदृष्टि' नहीं है तो क्या सही मायने में वह कमजोर रचनाकार होगा। इसके जवाब में मुक्तिबोध लिखते हैं – "यदि कवि या कलाकार किसी शास्त्रीय पुस्तक के पास न भी पहुंचे, तब भी, मनुष्य होने के नाते वह समस्याओं के प्रति संवेदनशील अवश्य होता है। यह सही है कि कोई लेखक कलाकार अधिक संवेदनशील तो कोई कम संवेदनशील होता है; अथवा किसी की संवेदना का विस्तार संक्षिप्त तो किसी का व्यापक होता है। फिर भी यह कहना कि वह मानव समस्या के प्रति संवेदनशील नहीं है, मुझे अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है।"[24]

'विश्वदृष्टि' निर्मित करने की प्रक्रिया में मुक्तिबोध एक मौलिक सिद्धांत की ओर बढ़ते हैं। वे लिखते हैं – "एक कला–सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन–दृष्टि होती है। उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन–दर्शन होता है और उस जीवन–दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में, एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।"[25] मुक्तिबोध ने 'आधुनिक भावबोध' के सिद्धान्त के संदर्भ में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है।

मुक्तिबोध इस बात पर जोर देते हैं कि जीवनानुभव ही काफी नहीं है उस अनुभव के महत्त्व की भावना' भी होनी चाहिए। यह भावना मूल्यांकनकारी शक्ति (यानी) विश्वदृष्टि (विचारधारा) से आती है। यदि 'महत्त्व' की 'भावना' न हुई तो अनुभव का प्रथम क्षण रचना के दूसरे क्षण में परिवर्तित ही नहीं हो पायेगा। वे लिखते हैं – "मतलब यह है कि कला के प्रथम क्षण का अनुभव जीवन के अन्य साधारण अनुभवों से भिन्न होता है। उसमें अनुभव और

अनुभव के महत्त्व की भावना दोनों बीज रूप में रहने से, दर्शकत्व और भोक्तृत्व की स्थितिमुक्तता और स्थितिबद्धता के परस्पर विरोधी बिन्दु रहते हैं।"[26]

मुक्तिबोध ने कविता के 'फ्रॉड' पर बहुत गंभीरता से विचार किया है। उनका मानना है कि 'फ्रॉड' जानबूझकर किया जाता है। इसमें लेखक जिन बातों को अपने जीवन में लागू नहीं करता, उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति करता है। और जिनसे वह सहमत है उन्हें कविता में कभी व्यक्त नहीं करता। मुक्तिबोध का यह भी मानना है कि जो लोग जीवन में ईमानदार नहीं हैं, वे रचना में ईमानदार नहीं हो सकते। दूसरे, रचना के द्वारा किसी लेखक की ईमानदारी की जाँच–पड़ताल संभव नहीं, क्योंकि रचना में पूर्णतः वह व्यक्त हो ही नहीं पाता।

मुक्तिबोध ने ईमानदारी के प्रश्न को समझदारी से जोड़ दिया है। जीवन–यथार्थ के साथ–साथ ज्ञान का भी निरंतर प्रसार एवं विकास होता रहता है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक, यथार्थमूलक और विकसित करने का जो संघर्ष हे वह वस्तुतः कलाकार का सच्चा संघर्ष है। यदि कवि या कलाकार यह संघर्ष त्याग देता है, तो वह सचमुच ईमानदार नहीं है।"[27] रचना तैयार होने के बाद वह पाठक पर क्या प्रभाव छोड़ती है, इस समस्या पर मुक्तिबोध विचार नहीं करते हैं। उनका चिंतन रचना के अस्तित्व में आने तक की समस्याओं के आस–पास केन्द्रित रहता है।

मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक आलोचना के साथ ही उनकी व्यावहारिक आलोचना भी महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक आलोचना में भी उन्होंने साहित्य के प्रश्नों को जीवन के प्रश्न मानकर मूल्यांकन किया है। उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में 'कामायनी : एक पुनर्विचार' तो प्रसिद्ध है ही, इसके अलावा 'धरती : एक समीक्षा' अपने तरह की अनूठी समीक्षा है। 'धरती' त्रिलोचन की आरंभिक रचना है। प्रगतिवादी युग की रचनाओं में इसका विषय और स्वर अलग है। रचना में व्यक्त कवि के गहरे 'आत्मविश्वास' और सामाजिक लाभ के प्रति 'ईमानदारी' को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध 'धरती' के केन्द्रीय कथ्य 'संघर्ष' को पकड़ते हैं। वे लिखते हैं – "इस संघर्ष की वास्तविकता उसके मन में इतनी गहरी गई है कि न वह प्रलयवादी रोमैण्टिक स्वप्नों में डूबता है और न किसी समझौते की भावना से परिचालित हो आदर्शवादी तलैया को अपना समुद्र समझता है। वह संघर्ष इतना यथार्थ है कि उसमें

सफलता के लिए धीर गंभीर व्यक्तित्व की आवश्यकता है; जिसकी परिकल्पना की कसौटी पर वह अपने व्यक्ति को कसना चाहता है और अपने मन को उसके बारे में उपदेश दिया करता है, समझाता रहता है।"[28]

मुक्तिबोध मानते हैं कि संघर्ष की भावना से त्रिलोचन भावुक नहीं हुए, बल्कि बुद्धि प्रधान बन गये। वे लिखते हैं – "इसके कारण ही उसके काव्य में बेचैनी और विह्वलता नहीं है, बल्कि एक प्रकार की तटस्थता है। हिन्दी की उत्तेजना–प्रिय रुचि को कदाचित यह अच्छा न लगे, परन्तु ज़रा ध्यान से पढ़ने पर अभिव्यक्ति के पीछे किसी गहराई का अंदाजा हो जाता है; क्योंकि उसी भावना के मनोविज्ञान से लिखता जा रहा है।"[29]

हिन्दी की 'उत्तेजना प्रिय रुचि' के कारण ही शायद त्रिलोचन प्रगतिशील आलोचना में उतने लोकप्रिय नहीं हो पाये। पाठकों को 'धरती' का परिचय देते हुए मुक्तिबोध ने त्रिलोचना की टेकनीक की 'सचेतनता' की ओर भी संकेत किया है।

मुक्तिबोध ने भारत भूषण अग्रवाल की किताब 'ओ प्रस्तुत मन' का मूल्यांकन करते हुए लिखा कि ये 'मामूली आदमी' की कविताएं हैं। वे लिखते हैं – "इसी मामूलियत के कारण ही भारत भूषण अग्रवाल ने अपने इस छोटे से संग्रह में इस समय हिन्दी में प्रचलित सभी शैलियों को अपनाया है, अपनाया ही नहीं, उन्हें नयी चमक भी दी है; यहाँ तक कि उन्हें आधुनिक कर डाला है।"[30] मुक्तिबोध ने भारत भूषण अग्रवाल की रचना–प्रक्रिया का गहराई से मूल्यांकन किया है। जहां उनके तर्क को उचित परिप्रेक्ष्य में रखा है, वहीं उनकी तटस्थता की आलोचना भी की है।

इसी व्यावहारिक आलोचना के क्रम में मुक्तिबोध ने धर्मवीर भारती और कुंवरनारायण की रचनाओं का भी मूल्यांकन किया है। गीति नाट्य 'अंधा युग' के पात्रों के चरित्रगत विकास के अभाव की ओर इशारा करते हुए वे लिखते हैं – "पहली बात जो बार–बार दिमाग में टकराती है, वह यह कि श्री भारती ह्रास के लक्षणों को उसके कारणों से कनफ्यूज कर देते हैं। नैतिक गिरावट स्वयं एक लक्षण है, जो अन्य घटनाक्रमों या अन्य मानसिक विकार दृश्यों का कारण हो सकती है, किन्तु इस गिरावट का कारण व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक है या ऐतिहासिक–समाजशास्त्रीय? इस प्रश्न पर या तो भारती ने विचार नहीं किया या विचार करके उसे छोड़ दिया, उसकी तह में नहीं गये।"[31]

मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म की एक खास विशेषता है कि जब भी वे अपने विरोधी रचनाकार की आलोचना करते हैं, तब वे उसे एकदम से खत्म करने की कोशिश में नहीं होते। उससे असहमत होते हुए भी ईमानदारी से उसकी आलोचना या मूल्यांकन करते हैं। कवि कुंवरनारायण की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए मुक्तिबोध का मानना है कुंवरनारायण मूलतः 'आदर्शवादी कवि' हैं और उनकी कविता में 'अंतरात्मा की पीड़ित विवेक चेतना' के दर्शन होते हैं। सपाट ढंग से कहा जाए तो कहा जा सकता है कि भारती की तुलना में कुंवरनारायण और कुंवरनारायण की रचनाओं का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण करने के बाद स्पष्टतः मुक्तिबोध लिखते हैं – "मैं बहुत बड़ी गलती करूंगा यदि यह न कहूं कि अपने परिवेश का अर्थात् समाज और सभ्यता का जो विश्लेषण उसके पास है, वह अपूर्ण, विकृत और असंगत है। मैं उस विश्लेषण की बात कर रहा हूँ, जो काव्य में प्रकट हुआ है। यह वर्तमान सभ्यता को यंत्र–सभ्यता कहता–सा दिखाई देता है। अथवा बाजारों, दुकानों, कल–कारखानों से बनी हुई सभ्यता। असल में, वर्तमान सभ्यता या समाज, अन्याय और शोषण पर आधारित पूंजीवादी सभ्यता है जिसे कवि कुंवरनारायण स्वयं भी 'अर्थयुग' कहता है।"[32]

मुक्तिबोध ने अपने व्यावहारिक आलोचना–कर्म में 'कामायनी' के बाद किसी एक रचना की एकाधिक आलोचना की है तो वह रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'उर्वशी' है। इसके अलावा पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' की भी घोर आलोचना की है। मुक्तिबोध इन दोनों रचनाओं को शासक वर्ग की विचारधारा की अभिव्यक्ति मानते हैं। हालांकि इसी एक कारण से वे 'उर्वशी' को एकदम से खारिज नहीं करते। हैदराबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कल्पना' में प्रकाशित भगवतशरण उपाध्याय के उर्वशी पर लिखे हुए लेख के संदर्भ में उठे विवाद में मुक्तिबोध ने भाग लिया। उन्होंने 'उर्वशी' की एक नये ढंग से व्याख्या की।

भगवतशरण उपाध्याय की आलोचना को मुक्तिबोध 'बाहर से भीतर की ओर यात्रा' मानते हैं। उनकी आलोचना दृष्टि को मुक्तिबोध अधूरी मानते हैं। वे लिखते हैं – "भगवतशरण जी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनन्तर यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना में कमजोरियां न आ पातीं।"[33] इस प्रकार मुक्तिबोध के

आलोचना–कर्म की एक विशेषता स्पष्ट होती है कि वे रचना की बाह्य आलोचना दृष्टि को जहां अधूरी और असाहित्यिक मानते हैं, वहीं रचना के 'भीतर–ही–भीतर रहकर' की गई आलोचना को भी वे एकांगी या अधूरी ही मानते हैं। अतः इन दोनों का समन्वय मुक्तिबोध अपने आलोचना–कर्म में करते हैं। 'उर्वशी' के विषय में मुक्तिबोध लिखते हैं – "'उर्वशी' एक वृहद् कल्पना स्वप्न है जिसके द्वारा और जिसके माध्यम से लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओं का आदर्शीकरण करता है और उन्हें एक सर्वोच्च आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। कथानक की ऐतिहासिकता केवल एक भ्रम है।"[34] इसी में वे आगे लिखते हैं – "उर्वशी का मूल दोष यही है कि वह 'एक कृत्रिम मनोविज्ञान' पर आधारित काव्य है। सच तो यह है कि लेखक को, सिर्फ एक बात छोड़कर और कोई खास बात कहनी नहीं है। उसके पास कहने के लिए ज्यादा कुछ है ही नहीं और जो कहना है वह यही कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति हो सकती है।"[35]

मुक्तिबोध अपने आलोचना कर्म के माध्यम से जब किसी लेखक या रचनाकार का मूल्यांकन करते हैं, तब वे उस लेखक के संदर्भ में अन्य आलोचकों की क्या राय रही है उसे अपेक्षाकृत कम उद्धृत करते हैं वे इस बात से भी सजग रहते हैं कि उस लेखक के विषय में आमतौर से जो बातें कही गयी होती हैं उनके दुहराव से बचने का। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध के आलोचना कर्म में प्रवेश के पूर्व प्रेमचंद पर बहुत–सी आलोचनात्मक किताबें आ चुकी थीं, परन्तु उनका मूल्यांकन करते समय मुक्तिबोध ने बहुत सी नयी बातों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार उन्होंने भक्तिकाल के सम्बन्ध में भी नवीन एवं मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया।

मुक्तिबोध अपने आलोचना कर्म में भरसक यह कोशिश करते हैं कि रचनाकार और रचना के विषय में गंभीरता से नवीन एवं मौलिक चिंतन किया जाय और उसकी रचना–प्रवृत्ति का निरूपण किया जाय।

सुभद्रा कुमारी चौहान की रचनाओं का मूल्यांकन करते वक्त मुक्तिबोध लिखते हैं – "पूरी रचनाएं एक जगह संग्रथित होने पर पाठक समग्र के निकट आ जाता है। उसके अन्तःकरण में झांइयां बढ़ने लगती हैं और वे आगे–आगे अधिकाधिक आकर्षक होकर झलमलाने लगती हैं, तथा अन्त में पाठक उनकी सहायता से कवि के पूर्ण अन्तःव्यक्तित्व का

एक स्वकल्पित मानसिक चित्र बनाने में सफल हो जाता है।"[36] एक तरह से कहा जा सकता है कि ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म की केन्द्र बिन्दु की ओर संकेत करती हैं।

आलोचना करते समय मुक्तिबोध रचना और रचनाकार की रचना–प्रक्रिया का मूल्यांकन करते हैं। इस दौरान वे अपने नवीन और मौलिक चिंतन 'कला के तीन क्षण' वाले सिद्धान्त का बारीक अध्ययन करते हैं। मुक्तिबोध, सुमित्रानंदन पंत और जयशंकर प्रसाद के 'कवि स्वभावों पर प्रकाश' डालते हुए लिखते हैं – "प्रसाद जिस अर्थ में अन्तर्मुखी कवि हैं, उस अर्थ में पंत जी नहीं। अन्तर्मुखता के बिना अपने ही भावों का स्पष्ट दर्शन, उनकी जटिलता और समग्रता का आकलन तथा उनकी विश्लेषित और संश्लेषित अभिव्यक्ति असंभव है। ऐसी अभिव्यक्ति प्रसाद के पास है, जो पंत जी के पास नहीं। पंत जी अन्तर्मुखी कवि नहीं हैं – अर्थात् उनकी अन्तर्मुखता बहुत क्षीण है। पंत जी अपने भावों को न केवल सरल रूप में रखते हैं, वरन् उनकी मात्रा बहुत कम होती है, और साथ ही उनका आवेग भी। ... वे मात्र निवेदन करते हैं। उनका काव्य अधिकतर निवेदनात्मक है। सच तो यह है कि पंत जी अन्तर्तम के गहन भाव दृश्यों के चित्रकार नहीं हैं।"[37] इनके अलावा मुक्तिबोध ने हरिशंकर परसाई और शमशेर बहादुर सिंह की रचनाओं का भी मूल्यांकन किया है।

मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में एक खास बात यह दिखायी देती है कि उनके लिए पहली और आखिरी चिन्ता 'साहित्य' की है। वे समाज के गंभीर सवालों की चर्चा करते हुए भी, उसके माध्यम से रचना विशेष के आंतरिक गठन या रचनाकार के 'मनस्तत्त्वों' की समीक्षा करना चाहते हैं। उनका समूचा विश्लेषण रचना का विश्लेषण है।

मुक्तिबोध ने 'नयी कविता' के विषय में जो कुछ लिखा है; वह अलग–अलग पत्र–पत्रिकाओं में छपने के लिए लिखा था; जिसमें मुख्यतः स्पष्टीकरण का भाव अधिक है। वे जिस प्रगतिशील–दृष्टि से अपने आपको संबद्ध मानते रहे, उन्हीं प्रगतिवादी आलोचकों ने 'नयी कविता' की प्रकृति; स्वरूप और समस्याएं स्पष्ट करना अति आवश्यक समझा था। अतः उन लेखों का अधिकांश भाग प्रगतिशीलता से प्रभावित लेखकों और पाठकों को संबोधित है। इसमें यह प्रयास रहा कि लोग नयी कविता को उचित परिप्रेक्ष्य में देखें, समझें और उसका मूल्यांकन करें। बिना समझे ही उसकी प्रवृत्तियों की निंदा न करें। इस प्रकार मुक्तिबोध ने 'नयी कविता' का समर्थन कर उसके सही मूल्यांकन का आग्रह किया है।

नयी कविता के मूल्यांकन के संदर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं – "नयी कविता के भीतर भी दो प्रवृत्तियाँ हैं, उन प्रवृत्तियों का वर्गीय आधार है, उन वर्गों की राजनीतिक मान्यताएँ हैं। इनमें प्रमुख निम्न–मध्यवर्गीय एवं उच्च मध्यवर्गीय काव्य प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। दोनों के आपसी संघर्ष में उच्चवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि का प्रभुत्व है; जिसके कारण कुछ निम्न मध्यवर्गीय कवि भी उन्हीं के प्रभाव से 'शेर–बकरी' बनाकर पेश कर रहे हैं। शीत–युद्ध का प्रभाव यहां भी देखा जा सकता है। आधुनिक 'भावबोध' का काव्य चिंतन इनका प्रमुख दर्शन है।"[38] मुक्तिबोध ने इन प्रवृत्तियों के भीतर संघर्ष किया इन्हीं संघर्ष के क्रम में उन्होंने रचना–प्रक्रिया, विशिष्ट सौन्दर्याभिरुचि, कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी, काव्य–सत्य की धारणा पर पुनर्विचार किया। यह कहना गलत न होगा कि मुक्तिबोध के काव्यचिंतन में 'नयी कविता' का 'आत्मसंघर्ष' है।

मुक्तिबोध के लिए 'कामायनी' पसंदीदा और चुनौतीपूर्ण रचना थी। यह चुनौती सभी प्रगतिशील आलोचकों के सामने थी। इसका कारण उसकी भव्यता और प्रभावशीलता थी। यहाँ पर आलोचक बच निकलने का प्रयास करते थे। ऐसी स्थिति में मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नाम से तर्कपूर्ण एवं विचारोत्तेजक किताब लिखी।

कामायनी के मूल्यांकन से मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म की जाँच ही नहीं हुई बल्कि इस अध्ययन से उन्होंने कई नयी और महत्त्वपूर्ण मान्यताएं भी स्थापित की। इसका प्रभाव उनके खुद की रचना–प्रक्रिया में दीखता है। मुक्तिबोध यथार्थवादी वस्तु तत्त्व से यथार्थवादी शिल्प में भेद करते हैं। वे लिखते हैं – "कलाकृति में यथार्थवादी रूप–विधान का यह अर्थ नहीं है कि लेखक ने वास्तविकता को वैज्ञानिक दृष्टि से, यथार्थवादी दृष्टि से समझा हो और वैसे उसका आकलन और मूल्यांकन किया हो। संक्षेप में यथार्थवादी शिल्प और दृष्टिकोण में अन्तर होता है। यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है – उस शिल्प के अन्तर्गत जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।"[39]

मुक्तिबोध अपने रचना–कर्म के दौरान किसी भी साहित्य को तीन तरह से देखने का आग्रह करते हैं। वे लिखते हैं – "किसी भी साहित्य को तीन प्रकार से देखा जाना चाहिए। एक तो, वह किन स्रोतों से उद्‌गत होता है; अर्थात् किन वास्तविकताओं के परिणामस्वरूप

वह साहित्य उत्पन्न हुआ है। दूसरे, उसका कलात्मक प्रभाव क्या है, और तीसरे, उसकी अन्तःप्रकृति, रूप–रचना कैसी है।"[40]

मुक्तिबोध इन तीन सवालों के आधार पर 'कामायनी' का मूल्यांकन करते हैं। उन्होंने पहले सवाल को ही अपनी आलोचना के केन्द्र में रखा है, क्योंकि इसका जवाब मिलने पर अन्य सवालों का उत्तर अपने आप मिल जाता है। इसके लिए मुक्तिबोध 'रचना–प्रक्रिया' के माध्यम से 'कामायनी' के सौन्दर्य तक पहुंचते हैं मुक्तिबोध के अनुसार कामायनी की प्रमुख समस्या 'मनु' का चरित्र–चित्रण है। सवाल उठता है कि वह मनु कौन है? उनके अनुसार कामायनी का मनु वेदकालीन मनु नहीं है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "मान लीजिए, मनु, मनु नहीं, सूबेदार है या मन्नालाल। स्वस्थ, शिक्षित, तरुण। श्रद्धा और इड़ा के स्थान पर कोई दूसरे आधुनिक नाम रख लीजिए। मुख्य बातों को रख करके तथा इन नामों को वही चरित्र प्रदान करके कहानी बढ़ाइए। मालूम होगा कि कहानी सर्वथा आधुनिक है तथा ऐसे चरित्र सुप्राप्य हैं। घटनाएं (मुख्य) सुप्राप्य है। तथा मनु की ट्रेजडी बहुत जगह मिल जाएगी। ... साथ ही श्रद्धा के समान शील–संतोषमयी गृहिणी से असंतोष, नूतन गतिमान निर्माणशीला व्यक्तित्व की नारी से साहचर्य की भावना, वर्तमान समाज के शिक्षित कर्मशील युवकों में बहुत मिल जायेगी।"[41]

मुक्तिबोध यह मानते हैं कि प्रसाद का मनु 'मानव–मन' का प्रतीक नहीं है। यह तो प्रसाद का 'स्व' मन है। इस पर प्रसाद ने बहुत चिन्तन किया है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "मनु एक टाइप है, उस वर्ग का टाइप, जिसकी शासन सत्ता तथा ऐश्वर्य छिन गया है। उस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ मनु में हैं। अहंकार, विलासिता, आत्ममोह, निर्बन्ध, उच्छृंखलता, व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखण्ड और ऐसा आत्मग्रस्त निविड़, आत्मविश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयों की ओर ले जाता है, मनु की विशेषता है। मनु पराजय का पुत्र है, जो अपनी पराजय को पलायन से ढांकता है; तथा जबर्दस्ती लाये गये सामंजस्य से छिपाता है। वस्तुतः मनु की प्रकृति ठीक उस पूंजीवादी व्यक्तित्व की प्रकृति है जिसने कभी–जनतंत्रवाद का बहाना भी नहीं किया; केवल अपने मानसिक खेद, अन्तर्विप्लव और निराशा से छुटकारा पाने तथा स्वस्थ शान्त अनुभव करने के लिए, श्रद्धा और इड़ा के समान अच्छी साथिनों का सहारा लिया, जो उसके सौभाग्य से उसे प्राप्त भी हुई।"[42]

मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के कवि जयशंकर प्रसाद और कामायनी की 'भूमिका' लेखक प्रसाद में अंतर किया है। रचनाकार अपनी रचना के विषय में जो कुछ कहता है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण वह है जो 'रचना' के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। वे लिखते हैं – "प्रसाद ने भले ही मनु को 'मनन' का प्रतीक, घोषित किया हो, वह है नहीं। पूंजीवादी व्यक्तिवाद का प्रतीक मनु 'जनतंत्रात्मकता' का बहाना भी नहीं करता। क्योंकि वह आधुनिक पूंजीवाद का पुत्र न होकर 'सामंत व्यवस्था के शासक वर्गों' का पुत्र है। इसलिए इन वर्गों की 'तानाशाही प्रवृत्ति' उनके खून में है। अतएव मनु को मन का, मानव मात्र का, मनन का प्रतीक घोषित करना भयानक अन्याय है, जब तक कि आप यह न मानें कि मन स्वभावतः ही मनु जैसा टुच्चा–ओछा, अहंग्रस्त, पाप–संकुल होता है।"[43]

मुक्तिबोध ने मनु के तीन अपराधों का उल्लेख किया है। पहला – श्रद्धा का परित्याग, दूसरा – इड़ा–घर्षण प्रयत्न, तीसरा – अपनी प्रजा से युद्ध। यदि देखा जाय तो इसमें पहला अपराध व्यक्तिगत श्रेणी का है, जबकि दूसरा और तीसरा अपराध सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र और श्रेणी का है। मुक्तिबोध लिखते हैं – "मनु को श्रद्धा–परित्याग का दुःख है, न कि इड़ा पर स्वयंकृत शारीरिक आक्रमण का, न अपने द्वारा की गयी जन हत्या का। इसलिए श्रद्धा के लिए तो उन्हें सचमुच पश्चाताप हुआ होगा, लेकिन राजनीतिक–सामाजिक क्षेत्र के अपराधों को स्वीकार करने के बदले यह सोचते हैं कि उनके स्वयं के द्वारा सताये गये लोग सचमुच उनके शत्रु हैं। न केवल मनु वरन् स्वयं प्रसाद जी ने भी कहीं भी मनु की आलोचना नहीं की है, यहाँ तक कि वे उसे श्रद्धा के द्वारा दुलराते हैं। श्रद्धा उनकी कहीं भी भर्त्सना नहीं करती।"[44]

श्रद्धा के विषय में मुक्तिबोध का मानना है कि उसकी अवतारणा प्रयोजनमूलक है। 'मनु की मुक्ति' के लिए जयशंकर प्रसाद ने श्रद्धा को इतना ऊपर उठाया है। इस चरित्र में प्रसाद जी की 'विश्व दृष्टि' और 'जीवन दृष्टि' प्रस्तुत हुई है। श्रद्धा की जीवनाकांक्षाएँ बहुत कम हैं। छोटी–सी पर्ण–कुटीर और वन–जीवन की सरलता यही श्रद्धा का आदर्श है।

इड़ा के संदर्भ में जयशंकर प्रसाद ने उसे बुद्धि का प्रतीक बताया। मुक्तिबोध इड़ा का चरित्रगत मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं कि वह तो पूंजीवादी समाज की मूल विचारधारा का प्रतीक है। उसे चरित्र में बुद्धितत्त्व प्रमुख अवश्य है। वह वर्ग–विभाजन के आधार पर नयी

सभ्यता खड़ी कर देती है। 'जीवन के लिए संघर्ष' और 'योग्यतम के लिए विजय तथा शेष का नारा' उसके प्रमुख सिद्धान्त हैं यह प्रतिक्रियावादी मान्यताएं प्रतीत होती हैं। मुक्तिबोध के अनुसार – इड़ा के कथन का तात्पर्य यह है कि सबको अपनी सीमा में रहना चाहिए – शोषित जनता को भी, शासक को भी। किन्तु इड़ा यहाँ भूल जाती है कि जिस समाज में मनुष्य के वर्ग–सम्बन्ध शोषित और शोषक इस मूल तथ्य की शक्ति से निर्मित है, वहां निश्चय ही शोषित को यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह शोषण का अन्त करे। इड़ा इसको नहीं मानती वह तो स्पष्ट कहती है कि स्पर्धा में योग्यतम की विजय जगत का मूल सिद्धान्त है। तो फिर उसे इस बात में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि शोषण के विरुद्ध, अत्याचार के विरुद्ध, आतंकवादी नीति के विरुद्ध शोषित जनता संघबद्ध होकर लड़ती है। वह स्वयं इस बात से नाराज है कि मनु के अत्याचार के विरुद्ध जनता ने इतना बड़ा और सख़्त कदम उठाया। किन्तु साथ ही उसका क्रोध मनु की आतंकवादिता और स्वार्थभाविता पर भी कम नहीं है। इड़ा के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह नियमों के अनुसार काम करना चाहती है।"[45]

मुक्तिबोध ने प्रसाद जी की सभ्यता–समीक्षा के प्रधान तत्त्वों को स्पष्ट किया है –

1. वर्ग–भेद का विरोध और उसकी भर्त्सना, अहंकार की निन्दा – यह प्रसाद जी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है।
2. शासक वर्ग की जन–विरोधी आतंकवादी नीतियों की तीव्र भर्त्सना – यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है।
3. वर्ग–भेद का विरोध करते हुए भी मेहनतकशों के वर्ग–संघर्ष का तिरस्कार – यह एक प्रतिक्रियावादी तत्त्व है।
4. वर्गहीन सामंजस्य और सामरस्य का वायवीय अमूर्त आदर्शवाद।

इस प्रकार मुक्तिबोध अपने आलोचना कर्म के माध्यम से 'कामायनी' का गंभीरता से अध्ययन करते हैं। उन्होंने उसके वस्तु तत्त्व का तथ्यात्मक विश्लेषण किया। कामायनी की मूल समस्या, उसके अर्थ विश्लेषण–मूल्यांकन के विषय में मुक्तिबोध ने जिन सवालों को उठाया। उनके मतों का जवाब अभी तक के आलोचक मजबूती से नहीं दे सके हैं।

6.3 अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना-कर्म का तुलनात्मक मूल्यांकन

हिन्दी आलोचना में अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म और रचना–कर्म को परस्पर विरोधी युग्मों में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है, जिससे वे एक–दूसरे के विलोम प्रतीत होते हैं। यह बात प्रायः नज़र अन्दाज़ कर दी जाती है कि समकालीन लेखकों के बीच विषमता के बावजूद समानता और साहचर्य भी हो सकता है। साहित्य में हमेशा से ही समकालीनों के बीच साहचर्य रहा है। उल्लेखनीय है कि विषमता या अंतर व्यक्ति या वस्तु को महत्त्वपूर्ण और विशेष बनाता है। यही कारण अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म के संदर्भ में भी लागू किया जा सकता है। विषमता की वजह से ही अज्ञेय और मुक्तिबोध को प्रायः अलग–अलग ध्रुव के कवि और आलोचक के रूप में देखा जाता रहा है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में बदले हुए संदर्भों और नई संवेदना के कारण साहित्यिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों में हुए परिवर्तन और सवालों को उठाया गया है। जहाँ अज्ञेय के रचना–कर्म और आलोचना कर्म में व्यक्ति स्वाधीनता को केन्द्र में रखा गया है, वहीं मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में यह व्यक्ति स्वाधीनता सामाजिक मुक्ति के साथ है। हालांकि इन दोनों आलोचकों के यहाँ क्रमशः समाज–निरपेक्ष और व्यक्ति–निरपेक्ष नहीं है। इन दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

यदि अज्ञेय अपने आलोचना–कर्म में आत्मबोध और आत्मान्वेषक की खोज करते हैं तो मुक्तिबोध आत्मालोचन और आत्माभियोग की खोज करते हैं। अब यहाँ दोनों को नज़दीक लाने वाला शब्द 'आत्म' है। भले ही दोनों इसे अलग–अलग अर्थ एवं संदर्भ में प्रयुक्त कर रहे हों। इन दोनों आलोचकों का प्रिय शब्द 'आत्म' है। इन्होंने 'आत्म' की जितनी व्याख्या की शायद हिन्दी आलोचना में हुआ हो।

अज्ञेय के आलोचना–कर्म और रचना–कर्म का बीज शब्द 'परम्परा' भी है। उन्होंने आधुनिकता को समझने के लिए परम्परा बोध को आवश्यक माना है। जबकि मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के केन्द्र में इतिहास बोध है। वे स्वयं इतिहासबोध के रचनाकार और विचारक हैं। मुक्तिबोध का मानना है कि आधुनिकता की समझ के लिए इतिहासबोध का होना आवश्यक है। अब यहाँ अज्ञेय और मुक्तिबोध को समीप लाने का कारण उनका 'आधुनिकता'

के संदर्भ में चिंतन–प्रक्रिया है। अज्ञेय आधुनिकता को लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से जांचते परखते हैं वहीं मुक्तिबोध इसे समाजवादी दृष्टि से परखते हैं। यहाँ लोकतांत्रिक और समाजवादी दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध सभ्यता के रचनाकार और आलोचक हैं। वे सभ्यता के संकट, उसके बोझ, उसकी मुक्ति और उसकी संभावनाओं पर विचार करते हैं। वे सभ्यता–समीक्षा में आधुनिक सभ्यता की विकृतियों और विरूपों को पहचानते हैं। वे उसकी पहचान करके कड़ी आलोचना भी करते हैं। गौरतलब है कि यदि अज्ञेय के लिए लोकतंत्र एक आत्यंतिक मूल्य है तो मुक्तिबोध के लिए समाजवाद। इसका कारण यह हो सकता है कि वे नेहरू युग के समकालीन हैं। उस युग में लोकतंत्र की स्थापना और समाजवादी व्यवस्था के विकास में गहरी आस्था थी।

विचारधारा के स्तर पर अज्ञेय और मुक्तिबोध का रास्ता भले ही अलग–अलग हो परन्तु आलोचना कर्म में उनका लक्ष्य साहित्य और साहित्यालोचन का विकास किस प्रकार हो, वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में आलोचक निर्मला जैन लिखती हैं कि "दिलचस्प बात तो यह है कि 'तारसप्तक' के दो कवि अज्ञेय और मुक्तिबोध लगभग समानांतर काव्य रचना भी कर रहे थे और काव्य की आलोचना भी जिसमें सैद्धांतिक स्थापनाएं और व्यावहारिक समीक्षाएं दोनों शामिल थीं। कहीं–कहीं तो प्रश्न भी एक ही था, पर उत्तर अपने–अपने थे।"[46]

'कविता के नए प्रतिमान' में नामवर सिंह ने रचना–प्रक्रिया और संप्रेषण के संदर्भ में मुक्तिबोध को अज्ञेय का समानधर्मा कहा है। मुक्तिबोध ने काव्य की रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हुए उसे 'ईमानदारी और गैर ईमानदारी' के सवाल से जोड़ा है। 'काव्य की रचना–प्रक्रिया' निबंध में नामवर सिंह लिखते हैं – "कृत्रिमता केवल इनसिंसियरिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की उपज होती है अर्थात् अंतर्जगत की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।"[47]

जब मुक्तिबोध को अज्ञेय का समानधर्मा माना जा चुका है तब इन दोनों आलोचकों में कुछ समानताओं की खोजबीन की जा सकती है। रचना–प्रक्रिया के संदर्भ में मुक्तिबोध के 'कला के तीन क्षण' की बात अक्सर की जाती है। लेकिन अज्ञेय के कला के तीन क्षण को

लेकर उन्हें क्षणवादी बताया जाता रहा है। मुक्तिबोध जिस 'ज्ञानात्मक संवेदना' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' की बात करते हैं वह सही मायने में दर्शनशास्त्र का मूलभूत सवाल है।

मुक्तिबोध सौन्दर्य प्रतीति के क्षण को कला का प्रथम क्षण मानते हैं। कला के दूसरे क्षण के संदर्भ में मुक्तिबोध स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि – "जब लेखक में शब्द संवेदनाएं जाग्रत होती हैं तब वह विषय तत्त्वों में व्यक्त करने लगता है।"[48] अज्ञेय के अनुसार अनुभूति की प्रामाणिकता महत्त्वपूर्ण है और इसके लिए रचनाकार को वर्तमान के क्षण को पकड़ना जरूरी हो जाता है। इस स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं कि – "कवि का काम इसी क्षण को पकड़ना या कि ऐसे क्षणों की शृंखला को पकड़ते चलना है। वास्तव में यह काम होता नहीं, लेकिन यथासंभव इसके निकटतर आते रहना 'है' या 'या' के अंतराल को कम–से–कमतर करते चलना, कवि का इष्ट है।"[49]

संप्रेषणीयता और रचना–प्रक्रिया से जुड़ी हुई बात अज्ञेय और मुक्तिबोध में 'आभ्यंतर सत्य' की खोज है। अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही अपने आलोचना–कर्म के माध्यम से आभ्यंतर पर विचार करते हैं। यदि अज्ञेय आभ्यंतर यथार्थ या अंतर्जगत के यथार्थ पर बल देते हैं तो मुक्तिबोध आभ्यंतर को रचना–प्रक्रिया का अनिवार्य अंग मानते हैं। अज्ञेय ने स्पष्ट किया है कि – – "मेरे लिए रचना का यही इष्ट या कि कह लिया जाये आदर्श रहा है। उसमें वस्तु सत्य का, बाहरी यथार्थ का खरापन भी होना चाहिए और साथ ही आत्मबोध की, आभ्यंतर यथार्थ की अर्थवत्ता भी होनी चाहिए।"[50]

मुक्तिबोध आभ्यंतर यथार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि – "यह आभ्यंतरीकृत बाह्य या कहिए कवि की अपनी संपत्ति अथवा दूसरे शब्दों में, कवि का मनोजगत् किन्हीं उद्वेगों या अनुरोधों से विचलित होकर कल्पना नेत्रों के सामने चंचल हो उठता है। उसे प्रतीत होता है कि उसकी चेतना अंधेरे मैदान में बहने वाली सरिता है, जिसकी लहरें कुछ क्षणों के लिए चमक–चमक उठती हैं।"[51]

कालबोध और युगबोध में अंतर के आधार पर दोनों आलोचकों का मूल्यांकन किया जाय तो अज्ञेय की आलोचना दृष्टि में दोनों की प्रमुखता है जबकि मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि में अपेक्षाकृत युगबोध प्रमुख है। अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में 'आत्म संघर्ष' शब्द की अनेक बार व्याख्या हुई है।

हिन्दी आलोचना में नई कविता के मूल्यांकन को लेकर दो शब्दों पर सर्वाधिक विचार किया गया – द्वन्द्व और तनाव। मुक्तिबोध के 'तनाव' और अज्ञेय के 'तनाव' की प्रकृति में अंतर है। मुक्तिबोध ने संघर्ष और द्वन्द्व को एक कदम और आगे बढ़ाकर 'तनाव' तक पहुंचा दिया जो हिन्दी आलोचना में एक अर्थपूर्ण पारिभाषिक शब्द बन गया। कविता में तनाव के महत्त्व को अज्ञेय ने भी स्वीकार किया। अज्ञेय का तनाव 'मानसिक तनाव' है जिसे जीवन की विविधता का बोध 'विशृंखल' करता है। इसके विपरीत मुक्तिबोध का तनाव दोहरापन पर आधारित है जिसमें एक उनका परिवेश तथा दूसरा स्वयं का आत्म। हालांकि अंततः ये दोनों तनाव आपस में जुड़े हुए हैं।

कला और कलाकार के पृथक्त्व को लेकर अज्ञेय और मुक्तिबोध के विचार एक समान हैं। उसी क्रम में वाचिक और मुद्रित कविता के विषय में दोनों आलोचकों के विचार भी एक समान हैं। काव्य का विषय और काव्य की वस्तु में अंतर विषय के संदर्भ में अज्ञेय और मुक्तिबोध के सिद्धान्तों में भी साम्यता दिखती है। जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के संदर्भ में अज्ञेय और मुक्तिबोध में मतैक्य नहीं है। इसी प्रकार कलाकार की 'ईमानदारी' विषय पर दोनों में मतैक्य नहीं है।

कला–सर्जन में समाज की भूमिका को लेकर अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में गंभीरता से चिंतन किया गया है। अज्ञेय इसे पूरी तरह से नकारते नहीं। यहाँ वे पहले एक सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करते हैं कि साहित्य की सामग्री और साहित्य का उद्देश्य अलग–अलग होता है। अज्ञेय इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि – "संसार की अनुभूतियां और घटनाएं साहित्यकार के लिए मिट्टी हैं, जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। वह निरी सामग्री है, उपकरण है। वह कलाकार को बांध नहीं सकती, कलाकार उसका मनमाना प्रयोग कर सकता है; मनचाहे अंश को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।"[52]

अज्ञेय के अनुसार साहित्य का उद्देश्य पहले से ही निर्धारित नहीं किया जा सकता। प्रगतिशील दृष्टि का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि इस साहित्य से प्रगति पैदा हुई, इसलिए यह प्रगतिशील साहित्य है, यह एक बात है। वहीं यह प्रगतिशील साहित्य है, इसलिए प्रगति पैदा करेगा यह दूसरी बात है। परिणामतः अज्ञेय इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजनीतिक–आर्थिक मामलों में प्रगतिवाद भले ही उपयोगी हो, साहित्य साहित्य के क्षेत्र

में यह भ्रामक दृष्टि है। इस प्रकार अज्ञेय प्रतिबद्धता की धारणा का खण्डन करते हैं। मुक्तिबोध से पहले की प्रगतिशील आलोचना के विषय में अज्ञेय की यह बात सत्य हो सकती है, परन्तु मुक्तिबोध ने कला–सर्जन की प्रगतिशील व्याख्या करके उनके आरोपों को गलत व मिथ्या साबित कर दिया।

कलाकार की स्वतंत्रता के सहारे अज्ञेय 'प्रतिबद्धता' और 'पक्षधरता' की धारणा का खण्डन करते हैं। अज्ञेय का मानना है कि अपने विवेक पर बल देने वाला व्यक्ति किसी दल के साथ प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। प्रतिबद्धता को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं कि – "... जहां उसका विवेक दल की नीति से मेल नहीं खाता; वहां दल को नहीं, विवेक को छोड़ना ही सुसदस्यता है। प्रतिबद्धता में दो दोष दिखायी पड़ते हैं, – एक, तो सामाजिक प्रगति का निर्णय दूसरे लोग करते हैं, जिनकी प्रतिबद्धता दल से होती है; और दूसरा इसमें साहित्यकार के स्वतंत्र विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि पार्टी के कार्यक्रम और नीतियां पहले ही तय हो चुकी होती हैं।"[53]

अज्ञेय के अनुसार भाषा को व्यापार और राजनीति भ्रष्ट करती है। सिर्फ कवि ही, समर्थ कवि भाषा को नया संस्कार देता है। उनका मानना है कि – "रचनाकार जिस समय रचना करता है उस समय न तो भाषा की चिन्ता होती है – या कि न तो भाषा के मामले में किसी चिंता का बोध होता है और न ही वह इस बात को लेकर व्यस्त होता है कि उसकी भाषा में रचनात्मकता हो। जो वह लिखता है और जिस भाषा में लिखता है उसमें रचनात्मकता है या नहीं; इसका विचार दूसरे करते हैं और रचना हो जाने के बाद करते हैं।"[54] साहित्य के अनेक सवालों पर चिंतन करते हुए अज्ञेय के आलोचना–कर्म में 'रचना के समय' को केन्द्र में रखा गया है। अज्ञेय की इसी मान्यता के विरोध में मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षणों की परिकल्पना प्रस्तुत की और कला के प्रथम क्षण पर इतना अधिक जोर दिया। आलोचना कर्म के क्रम में ही जिसे अज्ञेय ने कवि की 'व्यक्तिगत ईमानदारी' यानी 'अनुभूति की प्रामाणिकता' कहा उसी को मुक्तिबोध ने 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' कहकर इसकी सीमाएं बतायीं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के व्यावहारिक आलोचना का तुलनात्मक मूल्यांकन करें तो उन्होंने भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल पर अपने विचार अधिकतर प्रस्तुत किये हैं।

भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के संदर्भ में अज्ञेय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निकट ठहरते हैं। हालांकि अज्ञेय ने कबीर सम्बन्धी मूल्यांकन नये दृष्टिकोण से किया है। जबकि मुक्तिबोध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निकट प्रतीत होते हैं। भक्तिकालीन व्याख्या के संदर्भ में मुक्तिबोध का लेख 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' महत्त्वपूर्ण है। भक्तिकाल और रीतिकाल के संदर्भ में अज्ञेय का लेख 'केशव की कविताई' भी महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिककाल के संदर्भ में इन दोनों आलोचकों ने मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, हरिवंशराय बच्चन आदि पर अलग–अलग तरह से विचार किया। इनके अलावा मुक्तिबोध ने शमशेर, भारतभूषण अग्रवाल, त्रिलोचन, कुंवरनारायण वीरेन्द्र कुमार, शेक्सपीयर और लू सुन की कहानियों का मूल्यांकन किया जबकि अज्ञेय ने जैनेन्द्र, सुदर्शन, सियारामशरण गुप्त आदि की रचनाओं का मूल्यांकन किया।

संदर्भ

1 अज्ञेय होने का अर्थ – कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 115
2 वही, पृ. 33
3 सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 188
4 संवत्सर – अज्ञेय, पृ. 14
5 अज्ञेय होने का अर्थ – कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 116
6 वही, पृ. 121
7 पूर्वग्रह, अंक 78–79, जनवरी–अप्रैल, 78
8 वही, पृ. 78
9 अज्ञेय होने का अर्थ – कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 127
10 केन्द्र और परिधि – अज्ञेय, पृ. 239
11 स्मृति छंदा – अज्ञेय, पृ. 15
12 स्मृति लेखा – अज्ञेय, पृ. 22
13 वही, पृ. 33
14 अन्तरा – अज्ञेय, पृ. 67
15 वही, पृ. 61
16 भवंती – अज्ञेय, पृ. 78
17 वही, पृ. 95
18 शाश्वती – अज्ञेय, पृ. 60
19 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 52
20 वही, पृ. 69
21 वही, पृ. 64–65
22 वही, पृ. 72
23 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–4 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 30
24 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 330
25 वही, पृ. 330–331
26 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–4 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 100
27 वही, पृ. 127
28 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 383
29 वही, पृ. 438
30 वही, पृ.
31 वही, पृ. 443
32 वही, पृ. 476–477
33 वही, पृ. 463

34 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–4 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 464
35 वही, पृ. 467
36 वही, पृ. 456
37 वही, पृ. 446
38 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 303
39 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–4 – सं. नेमिचंद जैन, पृ. 219
40 वही, पृ. 229
41 वही, पृ. 375–376
42 वही, पृ. 231
43 वही, पृ. 231
44 वही, पृ. 286
45 वही, पृ. 330
46 वही, पृ. 331
47 कविता के नए प्रतिमान – नामवर सिंह, पृ. 35
48 नयी कविता का आत्म संघर्ष – मुक्तिबोध, पृ. 112
49 अज्ञेय, सं. विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ. 12
50 समकालीन हिन्दी आलोचना – सं. परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 40
51 नयी कविता का आत्म संघर्ष – मुक्तिबोध, पृ. 112–113
52 सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय, पृ. 54
53 वही, पृ. 343
54 वही, पृ. 343

उपसंहार

हिन्दी–आलोचना में परस्पर विरोधी युग्मों के विषय में सोचने की आदत को इस प्रकार प्रचारित या प्रस्तुत किया जाता है कि ये धुर विरोधी हैं। यह बात भुला दी जाती है कि किसी भी समय में लिखने वालों के बीच साहचर्य और समानता भी हो सकती है। हिन्दी साहित्य में परस्पर विरोधी युग्मों में अनेक दृष्टियों, शैलियों और विचारों का साहचर्य रहा है। उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार मध्यकाल में कबीर और तुलसी, छायावाद में प्रसाद, निराला, पन्त और महोदवी अपने अपेक्षाकृत कम साम्य और अधिक वैषम्य के बावजूद मध्यकाकलीन और छायावादी हैं, उसी प्रकार अज्ञेय और मुक्तिबोध नई कविता, आधुनिकता, रचना और आलोचना में अपनी समानताओं और विषमताओं के कारण चर्चित हैं। उनके लेखन में परस्पर कई विरोध और अन्तर्विरोध शामिल हैं पर उनकी समानताओं और असमानताओं के पीछे कोई आलोचनात्मक या वैचारिक आरोपण नहीं है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध कवि के रूप में प्रयोगवादी (तारसप्तक) हैं; जबकि आलोचक के रूप में दोनों की चिंतन–प्रक्रिया, रचना–प्रक्रिया और वैचारिक रास्ते अलग–अलग हैं। वे समकालीन हैं। परिणामस्वरूप उनके मूल्यांकन हेतु तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। जहाँ अज्ञेय आलोचक के रूप में कलावादी और आधुनिकतावादी हैं, वहीं मुक्तिबोध मार्क्सवादी हैं। मार्क्सवादी होने के बावजूद मुक्तिबोध मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की कमजोरियों को रेखांकित करते हैं। मार्क्सवादी चितन पर अज्ञेय ने जितना कड़ा प्रहार अपने आरंभिक आलोचनात्मक लेखन में किया उतना बाद के लेखन में नहीं। बाद में आवश्यकतानुसार ही अज्ञेय ने मार्क्सवादी साहित्य का खण्डन किया है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध समकालीन तो थे ही इनका सम्बन्ध नेहरू युग से भी था। इसका प्रभाव दोनों के आलोचना–कर्म पर भी दिखायी पड़ता है। इन दोनों आलोचकों ने अपने आलोचना–कर्म में लोकतंत्र की स्थापना और समाजवादी व्यवस्था के विकास में गहरी आस्था को भी प्रकट किया है। इसके अलावा इनके आलोचना कर्म पर प्रगतिशील लेखक संघ, द्वितीय विश्व युद्ध, स्वाधीनता आंदोलन और आजादी के बाद की बदली परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा।

हिन्दी आलोचना में अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म और रचना–कर्म को परस्पर विरोधी युग्मों में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। इसी से वे एक–दूसरे के विलोम प्रतीत होते हैं। यह बात प्रायः नज़र अन्दाज़ कर दी जाती है कि समकालीन लेखकों के बीच विषमता के बावजूद समानता और साहचर्य भी हो सकता है। साहित्य में हमेशा से ही समकालीनों के बीच साहचर्य रहा है। उल्लेखनीय है कि विषमता या अंतर व्यक्ति या वस्तु को महत्त्वपूर्ण और विशेष बनाता है। यही कारण अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म के संदर्भ में लागू किया जा सकता है। विषमता की वजह से ही अज्ञेय और मुक्तिबोध को प्रायः अलग–अलग ध्रुव के कवि और आलोचक के रूप में देखा जाता रहा है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में बदले हुए संदर्भों और नई संवेदना के कारण साहित्यिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों में हुए परिवर्तन और सवालों को उठाया गया है। जहाँ अज्ञेय के रचना–कर्म और आलोचना कर्म में व्यक्ति स्वाधीनता को केन्द्र में रखा गया है, वहीं मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में यह व्यक्ति स्वाधीनता सामाजिक मुक्ति के साथ है। हालांकि इन दोनों आलोचकों के यहाँ क्रमशः समाज–निरपेक्ष और व्यक्ति–निरपेक्ष नहीं है। इन दोनों में अन्योन्याश्रेय सम्बन्ध है।

यदि अज्ञेय अपने आलोचना–कर्म में आत्मबोध और आत्मान्वेषक की खोज करते हैं तो मुक्तिबोध आत्मालोचन और आत्माभियोग की खोज करते हैं। अब यहाँ दोनों को नज़दीक लाने वाला शब्द 'आत्म' है। भले ही दोनों इसे अलग–अलग अर्थ एवं संदर्भ में प्रयुक्त कर रहे हों। इन दोनों आलोचकों का प्रिय शब्द 'आत्म' है। इन्होंने 'आत्म' की जितनी व्याख्या की शायद ही हिन्दी आलोचना में कहीं और हुआ हो।

अज्ञेय के आलोचना–कर्म और रचना–कर्म का बीज शब्द 'परम्परा' है। उन्होंने आधुनिकता को समझने के लिए परम्परा बोध को आवश्यक माना है। जबकि मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के केन्द्र में इतिहास बोध है। क्योंकि वे स्वयं इतिहासबोध के रचनाकार और विचारक हैं। मुक्तिबोध का मानना है कि आधुनिकता की समझ के लिए इतिहासबोध का होना आवश्यक है। अब यहाँ अज्ञेय और मुक्तिबोध को समीप लाने का कारण उनका

'आधुनिकता' के संदर्भ में चिंतन–प्रक्रिया है। अज्ञेय आधुनिकता को लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से जांचते परखते हैं वहीं मुक्तिबोध इसे समाजवादी दृष्टि से परखते हैं। यहाँ लोकतांत्रिक और समाजवादी दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध सभ्यता के रचनाकार और आलोचक हैं। वे सभ्यता के संकट, उसके बोझ, उसकी मुक्ति और उसकी संभावनाओं पर विचार करते हैं। वे सभ्यता–समीक्षा में आधुनिक सभ्यता की विकृतियों और विरूपों को पहचानते हैं। वे उसकी पहचान करके कड़ी आलोचना भी करते हैं। गौरतलब है कि यदि अज्ञेय के लिए लोकतंत्र एक आत्यंतिक मूल्य है तो मुक्तिबोध के लिए समाजवाद। इसका कारण यह हो सकता है कि वे नेहरू युग के समकालीन हैं। उस युग में लोकतंत्र की स्थापना और समाजवादी व्यवस्था के विकास में गहरी आस्था थी।

विचारधारा के स्तर पर अज्ञेय और मुक्तिबोध का रास्ता भले ही अलग–अलग हो परन्तु महत्त्वपूर्ण है कि आलोचना कर्म में उनका लक्ष्य साहित्य और साहित्यालोचन के विकास का है। इनके विषय में आलोचक निर्मला जैन लिखती हैं कि दिलचस्प बात तो यह है कि 'तारसप्तक' के दो कवि अज्ञेय और मुक्तिबोध लगभग समानांतर काव्य रचना भी कर रहे थे और काव्य की आलोचना भी जिसमें सैद्धांतिक स्थापनाएं और व्यावहारिक समीक्षाएं दोनों शामिल थीं। कहीं–कहीं तो प्रश्न भी एक ही था, पर उत्तर अपने–अपने थे।

'कविता के नए प्रतिमान' में नामवर सिंह ने रचना–प्रक्रिया और संप्रेषण के संदर्भ में मुक्तिबोध को अज्ञेय का समानधर्मा कहा है। मुक्तिबोध ने काव्य की रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हुए उसे 'ईमानदारी और गैर ईमानदारी' के सवाल से जोड़ा है। 'काव्य की रचना–प्रक्रिया' निबंध में नामवर सिंह लिखते हैं – कृत्रिमता केवल इनसिंसियरिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की उपज होती है अर्थात् अंतर्जगतकी निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

जब मुक्तिबोध को अज्ञेय का समानधर्मा माना जा चुका है तब इन दोनों आलोचकों में कुछ समानताओं की खोजबीन की जा सकती है। रचना–प्रक्रिया के संदर्भ में मुक्तिबोध के 'कला के तीन क्षण' की बात अक्सर की जाती है। लेकिन अज्ञेय के कला के तीन क्षण को लेकर उन्हें क्षणवादी बताया जाता है। मुक्तिबोध जिस 'ज्ञानात्मक संवेदना' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' की बात करते हैं वह सही मायने में दर्शनशास्त्र का मूलभूत सवाल है।

मुक्तिबोध सौन्दर्य प्रतीति के क्षण को कला का प्रथम क्षण मानते हैं। कला के दूसरे क्षण के संदर्भ में मुक्तिबोध स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जब लेखक में शब्द संवेदनाएं जाग्रत होकर, वह विषय तत्वों में व्यक्त करने लगता है। अज्ञेय के अनुसार अनुभूति की प्रामाणिकता महत्त्वपूर्ण है और इसके लिए रचनाकार को वर्तमान के क्षण को पकड़ना जरूरी हो जाता है। अज्ञेय की मान्यता थी कि – कवि का काम इसी क्षण को पकड़ना या कि ऐसे क्षणों की श्रृंखला को पकड़ते चलना है। वास्तव में यह काम होता नहीं, लेकिन यथासंभव इसके निकटतर आते रहना 'है' या 'या' के अंतराल को कम–से–कमतर करते चलना, कवि का इष्ट है।

संप्रेषणीयता और रचना–प्रक्रिया से जुड़ी हुई बात अज्ञेय और मुक्तिबोध में 'आभ्यंतर सत्य' की खोज है। अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही अपने आलोचना–कर्म के माध्यम से आभ्यंतर पर विचार करते हैं। यदि अज्ञेय आभ्यंतर यथार्थ या अंतर्जगत के यथार्थ पर बल देते हैं तो मुक्तिबोध आभ्यंतर को रचना–प्रक्रिया का अनिवार्य अंग मानते हैं। अज्ञेय ने स्पष्ट किया है कि मेरे लिए रचना का यही इष्ट या कि कह लिया जाये आदर्श रहा है। उसमें वस्तु सत्य का, बाहरी यथार्थ का खरापन भी होना चाहिए और साथ ही आत्मबोध की, आभ्यंतर यथार्थ की अर्थवत्ता भी होनी चाहिए।

आभ्यंतर यथार्थ को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध की मान्यता है कि यह आभ्यंतरीकृत बाह्य या कहिए कवि की अपनी संपत्ति अथवा दूसरे शब्दों में, कवि का मनोजगत् किन्हीं उद्वेगों या अनुरोधों से विचलित होकर कल्पना नेत्रों के सामने चंचल हो उठता है। उसे प्रतीत होता है कि उसकी चेतना अंधेरे मैदान में बहने वाली सरिता है, जिसकी लहरे कुछ क्षणों के लिए चमक–चमक उठती है।

कालबोध और युगबोध में अंतर के आधार पर दोनों आलोचकों का मूल्यांकन किया जाय तो अज्ञेय की आलोचना दृष्टि में दोनों की प्रमुखता है जबकि मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि में अपेक्षाकृत युगबोध प्रमुख है। अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में 'आत्म संघर्ष' शब्द की अनेक बार व्याख्या हुई है।

हिन्दी आलोचना में नई कविता के मूल्यांकन को लेकर दो शब्दों पर सर्वाधिक विचार किया गया – द्वन्द्व और तनाव। मुक्तिबोध के 'तनाव' और अज्ञेय के 'तनाव' की प्रकृति में

अंतर है। मुक्तिबोध ने संघर्ष और द्वन्द्व को एक कदम और आगे बढ़ाकर 'तनाव' तक पहुंचा दिया जो हिन्दी आलोचना में एक अर्थपूर्ण पारिभाषिक शब्द बन गया। कविता में तनाव के महत्त्व को अज्ञेय ने भी स्वीकार किया। अज्ञेय का तनाव 'मानसिक तनाव' है जिसे जीवन की विविधता का बोध 'विशृंखल' करता है। इसके विपरीत मुक्तिबोध का तनाव दोहरापन पर आधारित है जिसमें एक उनका परिवेश तथा दूसरा स्वयं का आत्म। हालांकि अंततः ये दोनों तनाव आपस में जुड़े हुए हैं।

कला और कलाकार के पृथक्त्व को लेकर अज्ञेय और मुक्तिबोध के विचार एक समान हैं। उसी क्रम में वाचिक और मुद्रित कविता के विषय में दोनों आलोचकों के विचार भी एक समान हैं। काव्य का विषय और काव्य की वस्तु में अंतर के संदर्भ में अज्ञेय और मुक्तिबोध के सिद्धान्तों में भी साम्यता दिखती है। जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के संदर्भ में अज्ञेय और मुक्तिबोध में मतैक्य नहीं है। इसी प्रकार कलाकार की 'ईमानदारी' विषय पर दोनों में मतैक्य नहीं है।

कला–सर्जन में समाज की भूमिका को लेकर अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म में गंभीरता से चिंतन किया गया है। अज्ञेय इसे पूरी तरह से नकारते नहीं। यहाँ वे पहले एक सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करते हैं कि साहित्य की सामग्री और साहित्य का उद्‌देश्य अलग–अलग होता है। वे मानते हैं कि संसार की अनुभूतियां और घटनाएं साहित्यकार के लिए मिट्‌टी हैं, जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। वह निरी सामग्री है, उपकरण है। वह कलाकार को बांध नहीं सकती, कलाकार उसका मनमाना प्रयोग कर सकता है; मनचाहे अंश को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।

अज्ञेय के अनुसार साहित्य का उद्‌देश्य पहले से ही निर्धारित नहीं किया जा सकता। प्रगतिशील दृष्टि का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि इस साहित्य से प्रगति पैदा हुई, इसलिए यह प्रगतिशील साहित्य है, यह एक बात है। वहीं यह प्रगतिशील साहित्य है, इसलिए प्रगति पैदा करेगा यह दूसरी बात है। परिणामतः अज्ञेय इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजनीतिक–आर्थिक मामलों में प्रगतिवाद भले ही उपयोगी हो, साहित्य के क्षेत्र में यह भ्रामक दृष्टि है। इस प्रकार अज्ञेय प्रतिबद्धता की धारण का खण्डन करते हैं। मुक्तिबोध से पहले की प्रगतिशील आलोचना के विषय में अज्ञेय की यह बात सत्य हो सकती है, परन्तु

मुक्तिबोध ने कला–सर्जन की प्रगतिशील व्याख्या करके उनके आरोपों को गलत व मिथ्या साबित कर दिया।

कलाकार की स्वतंत्रता के सहारे अज्ञेय 'प्रतिबद्धता' और 'पक्षधरता' की धारणा का खण्डन करते हैं। अज्ञेय का मानना है कि अपने विवेक पर बल देने वाला व्यक्ति किसी दल के साथ प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। प्रतिबद्धता को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय संकेत करते हैं कि – जहां उसका विवेक दल की नीति से मेल नहीं खाता; वहां दल को नहीं, विवेक को छोड़ना ही सुसदस्यता है। प्रतिबद्धता में दो दोष दिखायी पड़ते हैं एक, तो सामाजिक प्रगति का निर्णय दूसरे लोग करते हैं, जिनकी प्रतिबद्धता दल से होती है; और दूसरा इसमें साहित्यकार के स्वतंत्र विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि पार्टी के कार्यक्रम और नीतियां पहले ही तय हो चुकी होती हैं।

अज्ञेय के अनुसार भाषा को व्यापार और राजनीति भ्रष्ट करती है। सिर्फ कवि ही, समर्थ कवि भाषा को नया संस्कार देता है। उनका मानना है कि रचनाकार जिस समय रचना करता है उस समय उसे न तो भाषा की चिन्ता होती है न ही भाषा के मामले में किसी चिंता का बोध होता है और न ही वह इस बात को लेकर व्यस्त होता है कि उसकी भाषा में रचनात्मकता हो। जो वह लिखता है और जिस भाषा में लिखता है उसमें रचनात्मकता है या नहीं; इसका विचार दूसरे करते हैं और रचना हो जाने के बाद करते हैं। साहित्य के अनेक सवालों पर चिंतन करते हुए अज्ञेय के आलोचना–कर्म में 'रचना के समय' को केन्द्र में रखा गया है। अज्ञेय की इसी मान्यता के विरोध में मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षणों की परिकल्पना प्रस्तुत की और कला के प्रथम क्षण पर इतना अधिक जोर दिया। आलोचना कर्म के क्रम में ही जिसे अज्ञेय ने कवि की 'व्यक्तिगत ईमानदारी' यानी 'अनुभूति की प्रामाणिकता' कहा उसी को मुक्तिबोध ने 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' कहकर इसकी सीमाएं बतायीं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के व्यावहारिक आलोचना का तुलनात्मक मूल्यांकन करें तो उन्होंने भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल पर अपने विचार अधिकतर प्रस्तुत किये हैं। भक्तिकाल और भक्तिकाव्य के संदर्भ में अज्ञेय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निकट ठहरते हैं। हालांकि अज्ञेय ने कबीर सम्बन्धी मूल्यांकन नये दृष्टिकोण से किया है। जबकि मुक्तिबोध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निकट प्रतीत होते हैं। भक्तिकालीन व्याख्या के संदर्भ में

मुक्तिबोध का लेख 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' महत्त्वपूर्ण है। भक्तिकाल और रीतिकाल के संदर्भ में अज्ञेय का लेख 'केशव की कविताई' भी महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिककाल के संदर्भ में इन दोनों आलोचकों ने मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, हरिवंशराय बच्चन आदि पर अलग–अलग तरह से विचार किया। इनके अलावा मुक्तिबोध ने शमशेर, भारतभूषण अग्रवाल, त्रिलोचन, कुंवरनारायण वीरेन्द्र कुमार, शेक्सपीयर और लू सुन की कहानियों का मूल्यांकन किया जबकि अज्ञेय ने जैनेन्द्र, सुदर्शन, सियारामशरण गुप्त आदि की रचनाओं का मूल्यांकन किया।

इस शोध प्रबंध में अज्ञेय और मुक्तिबोध की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना कर्म का तुलनात्मक अध्ययन करके उसके साम्य और वैषम्य पक्ष को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। हिन्दी आलोचना में अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना–कर्म को परस्पर विरोधी युग्मों में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। परिणामस्वरूप दोनों एक–दूसरे के विलोम प्रतीत होते हैं। साहित्य में हमेशा से ही समकालीनों के बीच विषमता के बावजूद समानता और साहचर्य की संभावना बनी रहती है। जहां अज्ञेय और मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के सैद्धान्तिक पक्ष में विषमता, समानता और अन्तर्विरोध तीनों दिखायी पड़ते हैं, वहीं उनके आलोचना कर्म के व्यावहारिक पक्ष में विषय साम्य के बाद चयन की स्वतंत्रता है।

आधार सामग्री (Primary Sources)

1. अज्ञेय – ***अद्यतन,*** सरस्वती विहार, दरियागंज, नई दिल्ली, 1977
2. अज्ञेय – ***आलवाल,*** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977
3. अज्ञेय – ***आत्मनेपद,*** भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003
4. अज्ञेय – ***आधुनिक हिंदी साहित्य,*** सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
5. अज्ञेय – ***जोग लिखी,*** राजपाल एंड संज, दिल्ली, 1977
6. अज्ञेय – ***लिखि कागद कोरे,*** राजपाल एंड संज, दिल्ली, 1972
7. अज्ञेय – ***लेखक का दायित्व,*** वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2012
8. अज्ञेय – ***स्रोत और सेतु,*** राजपाल एंड संज, दिल्ली, 1978
9. अज्ञेय – ***संवत्सर,*** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1979
10. अज्ञेय – ***युगसंधियों पर,*** सरस्वती विहार, दरियागंज, नई दिल्ली, 1981
11. अज्ञेय – ***त्रिशंकु,*** सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
12. ओम निश्चल (सं.) – ***अज्ञेय आलोचना संचयन,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
13. जैन, नेमिचन्द्र – ***मुक्तिबोध रचनावली,*** खण्ड–4, (एक साहित्यिक की डायरी, कामायनी : एक पुनर्विचार) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
14. जैन, नेमिचन्द्र – ***मुक्तिबोध रचनावली,*** खण्ड–5, (आलोचनात्मक निबंध) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
15. मुक्तिबोध, गजानन माधव – ***नयी कविता का आत्मसंघर्ष,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
16. मुक्तिबोध, गजानन माधव – ***नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
17. मुक्तिबोध, गजानन माधव – ***समीक्षा की समस्याएँ,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
18. मुक्तिबोध, गजानन माधव – ***भारत : इतिहास और संस्कृति,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

सहायक स्रोत/संदर्भ (Secnary Sources/References)

1 अमरनाथ – ***आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

2 अज्ञेय – ***अपने बारे में,*** आकाशवाणी प्रकाशन, आकाशवाणी महानिदेशालय, संसद मार्ग, नई दिल्ली, 2010

3 अवस्थी, देवीशंकर – ***आलोचना का द्वंद्व,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

4 चक्रधर, अशोक – ***मुक्तिबोध की समीक्षाई,*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

5 चतुर्वेदी, रामस्वरूप – ***अज्ञेय ओर आधुनिक रचना की समस्या,*** भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2011

6 चतुर्वेदी, रामस्वरूप – ***हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास,*** लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2009

7 चतुर्वेदी, राजेन्द्र प्रसाद, दीपक प्रकाश त्यागी (सं.) – ***आलोचना की चुनौतियाँ,*** नयी किताब, नई दिल्ली, 2013

8 चौधरी, इन्द्रनाथ – ***तुलनात्मक साहित्य की भूमिका,*** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983

9 चौबे, देवेन्द्र (सं.) – ***आलोचना का जनतंत्र,*** आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 2011

10 चौबे, मंजुला – ***प्रगतिवादी समीक्षा : एक विकासमूलक अध्ययन,*** तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

11 चौहान, शिवदान सिंह – ***आलोचना के मान,*** स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

12 देवताले, चंद्रकांत – ***डबरे पर सूरज का बिम्ब*** (मुक्तिबोध की गद्य रचनाएँ), नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2005

13 गुप्त, आलोक – ***मुक्तिबोध : युग चेतना और अभिव्यक्ति,*** भारत पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 2011

14 गुप्ता, रूपा (सं.) – ***अज्ञेय और प्रकृति,*** नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली, 2012

15 गुहा, रामचंद्र – ***भारत गांधी के बाद,*** पेंगुइन बुक्स, यात्रा बुक्स, नई दिल्ली, 2012

16 जैन, निर्मला, कुसुम बाठिया – ***पाश्चात्य साहित्य चिन्तन,*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

17 जैन, निर्मला – ***काव्य चिन्तन की पश्चिमी परम्परा,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

18 जैन, निर्मला – ***हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी,*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

19 जैन, महेन्द्र राजा – ***नामवर विचार कोश,*** नयी किताब प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

20 मधुरेश – ***हिंदी आलोचना का विकास,*** सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012

21 माचवे, प्रभाकर – ***अज्ञेय,*** राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, 1991

22 मिश्र, भगीरथ – ***पाश्चात्य काव्यशास्त्र,*** विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007

23 मिश्र, विद्यानिवास – ***साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,*** हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1997

24 मिश्र, शिवकुमार – ***साहित्य और सामाजिक संदर्भ,*** प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2012

25 नवल, नंदकिशोर – ***मुक्तिबोध,*** साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008

26 नवल, नंदकिशोर – ***निराला और मुक्तिबोध,*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

27 नवल, नंदकिशोर – ***मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना,*** लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

28 नगेन्द्र – ***तुलनात्मक साहित्य,*** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1985

29 पालीवाल, कृष्णदत्त – ***अज्ञेय विचार का स्वराज,*** प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2010

30 पालीवाल, कृष्णदत्त – ***अज्ञेय,*** प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2013

31 पाण्डेय, मैनेजर – ***साहित्य और इतिहास दृष्टि,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

32 पाण्डेय, मैनेजर – ***साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका,*** हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2005

33 पाण्डेय, मैनेजर – ***आलोचना की सामाजिकता,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

34 पाण्डेय, मैनेजर – ***शब्द और कर्म,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

35 पाण्डेय, सुरेशचंद्र – ***अज्ञेय साहित्य विमर्श*** (खण्ड–4), नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

36 प्रसाद, गोबिन्द – ***कविता के सम्मुख,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

37 रामबक्ष – ***समकालीन हिंदी आलोचक और आलोचना,*** हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1992

38 रेनेवेलक, इन्द्रनाथ मदान (अनु.) – ***आलोचना की अवधारणाएँ,*** हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1992

39 रोहिताश्व – ***मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992

40 सरकार, सुमित – ***आधुनिक भारत,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

41 सिंह, दूधनाथ – ***मुक्तिबोध साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

42 सिंह, नामवर – ***इतिहास और आलोचना,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

43 सिंह, नामवर – ***आलोचक के मुख से,*** खगेन्द्र ठाकुर (सं.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

44 सिंह, नामवर – ***हिंदी का गद्य पर्व,*** आशीष त्रिपाठी (सं.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

45 सिंह, नामवर – ***आलोचना और विचारधारा,*** आशीष त्रिपाठी (सं.), राजकमल प्रकाशन, 2010

46 सिंह, नामवर – ***साहित्य की पहचान,*** आशीष त्रिपाठी (सं.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

47 सिंह, नामवर – ***कविता के नए प्रतिमान,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

48 सिंह, बच्चन – ***हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास,*** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

49 सिंह, बच्चन – ***आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द,*** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

50 सिंह, बच्चन – ***आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास,*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

51 सिंह, गोपेश्वर – ***आलोचना का नया पाठ,*** किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

52 शर्मा, रामविलास – ***नयी कविता और अस्तित्ववाद,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

53 शर्मा, विष्णु चन्द्र – ***मुक्तिबोध की आत्मकथा,*** राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1984

54 शर्मा, देवेन्द्रनाथ – ***पाश्चात्य काव्यशास्त्र,*** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2009

55 शाह, रमेशचंद्र – ***अज्ञेय,*** साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990

56 शाही, विनोद – ***आलोचना की जमीन,*** आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 2011

57 शुक्ल, रामचंद्र – ***चिंतामणि*** (भाग–1), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009

58 श्रीवास्तव, परमानंद (सं.) – ***समकालीन हिंदी आलोचना,*** साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1998

59 त्रिपाठी, विश्वनाथ – ***हिंदी साहित्य का सरल इतिहास,*** ओरिएँट लांग मैन, दिल्ली, 2007

60 त्रिपाठी, विश्वनाथ – ***हिंदी आलोचना,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970

61 त्रिपाठी, अरविन्द – ***हिंदी आलोचना के नवरत्न,*** शिल्पायन, नई दिल्ली, 2004

62 त्रिपाठी, प्रभात – ***प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य,*** वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1990

63 तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (सं.) – ***अज्ञेय सहचर,*** किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

64 तिवारी, रामचन्द्र – ***भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा,*** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2006

65 वर्मा, निर्मल – ***कला का जोखिम,*** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

66 विमल, गंगाप्रसाद – ***अज्ञेय का रचना संसार,*** सुषमा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967

67 यायावर, भारत (सं.) – ***आलोचना का अदृश्य पक्ष,*** प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

पत्र–पत्रिकाएँ

1 आलोचना (नवांक), जुलाई–सितम्बर, 1968

2 आलोचना (त्रैमासिक), अंक–41, अप्रैल–जून, 2011

3 आजकल (स्वर्ण जयंती अंक), मई–जून, 1994

4 आजकल (मासिक), अप्रैल, 2011

5 भारतीय वाङ्मय (मासिक), अगस्त 2005, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (नामवर सिंह का लेख)

6 दिनमान, अंक 22–28, मार्च, 1987 (रवीन्द्र त्रिपाठी का लेख)

7 फिलहाल, 1970 (अशोक वाजपेयी का लेख)

8 हंस, जुलाई, 1987 (राजेन्द्र यादव का लेख)

9 हंस, दिसम्बर, 1999 (राजेन्द्र यादव की संपादकीय)

10 हंस, जून, 2000 (राजेन्द्र यादव की संपादकीय)

11 हंस, फरवरी, 2001 (देवी प्रसाद मिश्र का लेख)

12 कथा–क्रम, अप्रैल–जून, 2002 (मुद्राराक्षस का लेख)

13 पूर्वग्रह, अंक 76–77 (रवीन्द्र त्रिपाठी का लेख)

14 राष्ट्रवाणी (मुक्तिबोध श्रद्धांजलि अंक), जनवरी–फरवरी, 1965

15 समालोचक (प्र. संपा. रामविलास शर्मा), अनामिका पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2010

16 उत्तर प्रदेश : साहित्य वार्षिकी, 1997 (अरविन्द त्रिपाठी का लेख)

वेबसाइट्स :

www.jstor.com
Digital Library of India